साहित्यप्रकाश

लेखक

रामशङ्कर शुक्ल, 'रसाल' एम० ए०

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९३१

प्रथमावृत्ति] [मूल्य १॥)

दो शब्द

हिन्दी का विश्वविद्यालयों में प्रवेश हो गया है। अब वह इंटर-मीजियेट कालेजों के इंटर तथा विश्वविद्यालयों के बी० ए० और एम० ए० में पढ़ाई जाने लगी है और इन उच्च श्रेणियों के विद्यार्थियों को हिन्दी-साहित्य का यथाक्रम अध्ययन कराया जाता है।

इस साहित्याध्ययन में साहित्य के इतिहास का भी अध्ययन होता है। अस्तु विद्यार्थियों के लिए साहित्य के साथ इतिहास का अध्ययन करने के लिए जो पुस्तकें अब तक तैयार हुई हैं वे सब विश्वविद्यालयों की ऊँची कक्षाओं के लिए ही उपयुक्त हैं। इंटरमीजिएट कालेज के छात्रों के लिए साहित्य के इतिहास की पुस्तक का अभाव है। इसी अभाव को दूर करने के लिए यह छोटी-सी पुस्तक तैयार की गई है। इसमें साहित्य के प्रायः सभी विभागों पर यथोचित रूप से प्रकाश डाला गया है। साहित्य के इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों का स्पष्ट विवेचन भी इसमें किया गया है। आशा है इंटर कक्षा के विद्यार्थियों और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की मध्यमा कक्षा के विद्यार्थियों को भी यह पुस्तक अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

रमेश-भवन, प्रयाग
शरत्पूर्णिमा सं० १९८८
(२६—१०—३१)

रामशङ्कर शुक्ल, 'रसाल' एम० ए०

सन्दर्भ-सूची

साहित्यप्रकाश

प्रथम अध्याय

जय-काव्य

हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ यद्यपि काव्य-शास्त्र के रीति-ग्रन्थ से ही होता है * किन्तु यदि विचार करते हुए वास्तव में देखा जावे तो यही कहना पड़ता है कि हिन्दी-साहित्य का उदय जय-काव्य से ही हुआ है। इसका प्रधान कारण यही जान पड़ता है कि हिन्दी-भाषा के प्रारम्भिक काल (९०० से ११०० सं० तक) में देश और समाज की परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं कि उस काल के कवियों एवं

---

* क्योंकि हिन्दी-भाषा का सबसे प्रथम कवि, जहाँ तक खोज करने से ज्ञात हुआ है, पुण्ड या पुष्प ही ठहरता है, इसका रचना-काल सं० ७७० में माना गया है। इसके विषय में केवल यही कहा जाता है कि इसने हिन्दी-दोहों में संस्कृत के किसी ग्रन्थ से अनुवाद करके एक अलङ्कार-ग्रन्थ लिखा था। इस प्रकार यही ग्रन्थ, यद्यपि अब अलभ्य है, हिन्दी-साहित्य का सबसे प्रथम ग्रन्थ ठहरता है।

—देखो मि० बं० विनोद

लेखकों को उनसे प्रभावित होना तथा उनके ही अनुकूल रचना करना अनिवार्य हो गया। यह समय हमारे राजपूत राजाओं के साम्राज्य का अवसान-काल ही था और देश में मुसलमानों के आक्रमणों तथा उनके आने का समय था, साथ ही यही समय क्षत्रिय राजाओं के परस्पर लड़ने और झगड़ने का भी था। देश में इसी लिए इस समय सर्वथा अशान्ति और क्रान्ति का ही प्रस्तार था। देश में कोई एक ऐसा परम प्रबल साम्राज्य न रह गया था जो देश-जाति की रक्षा सब प्रकार करके सुख-शान्ति स्थापित कर रखता, विपरीत इसके, देश में छोटे छोटे कतिपय राज्य हो गये थे, जिनके क्षत्रिय राजा लोग अपने प्रभावातंक के प्रदर्शनार्थ एक दूसरे से युद्ध किया करते थे। प्रजा इन युद्धों के कारण शान्त एवं सुखी न रह सकती थी, और देश, समाज तथा साम्राज्य (हिन्दू-साम्राज्य जो अब छोटे छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था) निर्बल और दीन हो रहा था। इसी अवसर पर पश्चिमीय देशों से मुसलमान लोग, देश की भौगोलिक सुपरिस्थिति, यहाँ की धन-धान्य-पूर्ण वसुन्धरा एवं सुन्दर जल-वायु आदि पर मुग्ध होते हुए, धार्मिक युद्ध करने के विचार से हिन्दुओं पर बड़े वेग से आक्रमण करने लगे थे। देश की स्वतन्त्रता तथा धार्मिक सत्ता के साथ अपनी जातीय एवं राष्ट्रीय महत्ता का विनाश होते देख, क्षत्रिय लोग जो देश, जाति, तथा धर्मादि के रक्षक माने जाते और राज्य एवं राष्ट्र के अधिपति होते थे, अपनी शक्ति मुसलमानों की ओर लगा रहे थे। प्रजा बेचारी बहुत प्रथम से ही राजनैतिक

कार्यों से परे कर दी गई थी, वह सभी प्रकार देश-प्रेम एवं धर्मानुराग रखते हुए भी राजनैतिक एवं रण-सम्बन्धी दाँव-पेचों से अनभिज्ञ होकर क्षत्रियों की ही मुखापेक्षी रहती थी।

अब ऐसी परिस्थिति में यही आवश्यक एवं अनिवार्य था कि देश में ऐसे विचार गुँजाये जावें जो लोगों के हृदयों में वीरता के भाव उत्तेजित करें और उन्हें युद्ध के लिए प्रोत्साहित करते हुए देश, जाति एवं धर्म के हेतु अपने को बलिदान करने के लिए शौर्य-साहस के साथ सब प्रकार तैयार कर दें। युद्ध में अपने प्राणों पर खेलनेवाले वीरों के ही यशोगान का यह समय था, क्योंकि ऐसा करने ही से उन वीरों को प्रतिकार-रूप में यश प्राप्त होता था और दूसरे वीरों को उनका अनुकरण करने में प्रोत्साहन एवं साहस प्राप्त होता था।

बस इसी अनिवार्य कारण से हमारे उन कवियों अथवा वीर चारणों को, जिन्हें हिन्दी-भाषा-रूपी नव-शिशु में ज्ञान-विज्ञान के भरने की आवश्यकता थी और जिनका कर्तव्य यही था कि हिन्दी-भाषा को साहित्यिक रूप देकर उसमें साहित्य की समृद्धि भर देते, उसे पुष्ट, संस्कृत तथा सुपठित बना देते; उस भाषा में, जिसका प्रचार देश की साधारण जनता की साधारण बोल-चाल में होता था और जिसे विकसित होकर साहित्यिक रूप की क्षमता न प्राप्त हुई थी, ऐसे ही काव्य की रचना करनी पड़ी जिससे पाठकों एवं श्रोताओं की नस नस में वीर-भाव का रक्त वेग से प्रवाहित हो जावे और जिससे वीरों तथा उनका अनुकरण करनेवालों को

प्रोत्साहन प्राप्त हो। बस हिन्दी-भाषा के प्रारम्भिक काल में ही वीर-काव्य की रचना हो चली और वीर-गाथा एवं जय-काव्य से ही उसके साहित्य का सच्चा श्रीगणेश हो चला।

यहाँ यह कह देना भी उचित है कि इस काल की शिष्ट या सभ्य समाज में अपभ्रंश एवं प्राकृत भाषाओं का और विद्वत्स-माज में संस्कृत-भाषा का ही पूर्णरूप से प्रचार था। यह परि-स्थिति का अनिवार्य प्रभाव ही था कि कवियों को हिन्दी-भाषा उठानी पड़ी, क्योंकि यदि वे उच्च साहित्यिक भाषाओं में से और किसी में भी अपना वीर एवं जय-काव्य लिखते तो उससे उनका जनता में वीरभावों के भरने का उद्देश्य न पूरा हो सकता और उनका काव्य साधारण जनता से सर्वथा दूर होकर केवल सुपठित समाज के ही संकीर्ण क्षेत्र में सीमित रह जाता और ऐसा होने से उससे कोई भी विशेष तथा अभीष्ट लाभ न होता। ऐसे ही समय में भाषा-परिवर्तन का भी होना आवश्यक होता है। बस यही हुआ भी, हिन्दी को उठाया गया और जय-काव्य के साथ उसका साहित्य रचा गया। यही समय संस्कृत आदि भाषाओं का अवसान या अन्तिम काल था। उनका प्रचार इसी प्रकार के अनिवार्य कारणों से देश एवं जनता में न रह गया था। बौद्धों ने प्रथम ही से संस्कृत-भाषा को प्राकृत भाषा को उठाकर अपने धार्मिक आन्दोलनों से दबा दिया था, और जैन लोगों ने भी ऐसा ही किया था, उन्होंने प्राकृत को भी छोड़ कर देश की साधारण भाषाको, जो अपभ्रंश कही जाती थी, उठाया था। अब परिस्थिति

के प्रभाव से दोनों भाषाओं के स्थान पर हिन्दी उठी और कार्य-क्षेत्र में आगे बढ़ने लगी। यह हुआ तो अवश्य परन्तु अब भी संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का प्रचार पठित समाज में अपने अच्छे रूप में ही बना रहा।

राज-दरबारों में जय-काव्य के कारण ही हिन्दी-भाषा का संचार हो गया था, अन्यथा अब तक उसके स्थान पर संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश ही को वहाँ प्रधानता मिला करती थी, यद्यपि ये भाषायें अब सुबोध न रह गई थीं। हाँ उच्च कोटि की साहित्यिक भाषाओं के समान ये शिष्ट या सभ्य समाज तथा विद्वन्मंडली के लिए अवश्यमेव सजीव रूप में थीं। साधारण जनता के लिए अब हिन्दी-भाषा ही मुख्य एवं उपयोगी भाषा हो रही थी। अस्तु, हिन्दी-भाषा एवं हिन्दी-साहित्य अपने शैशवकाल में ही युवक होकर वीर-गर्जन करने के लिए बाध्य हो गया। कवि लोग भी ऐसी परिस्थिति में वीर-काव्य एवं जय-काव्य की ही रचना करने के लिए विवश हो गये, क्योंकि अब उन्हें तभी राजाश्रय एवं सम्मान प्राप्त हो सकता था जब वे अपनी वीराह्लादिनी कविता से राजपूत वीरों को उत्साहित करते तथा उनके हृदयों को उनके रण-कौशल तथा पराक्रम आदि की प्रशंसा करके उमङ्ग से उमड़ा देते।

अब श्रीभोज और विक्रमादित्य जैसे साहित्य-कला-प्रेमी तथा विद्या-व्यसनी महाराजों का वह समय न था कि विद्वत्तापूर्ण शास्त्रार्थों का आयोजन किया जाता,

पाण्डित्य-पटुता और चातुर्य-चमत्कार की उदार करों से श्रीवृद्धि होती तथा काव्य-कला-कौशल पर "प्रत्यक्षरलक्षं ददौ" चरितार्थ होता, वाग्वैचित्र्य एवं विज्ञान-वैलक्षण्य के वैचक्षण्य पर मौलिकता की मंजुता तथा सूक्ति-सुधा की माधुरी के लिए उपहारों का भंडार खोल दिया जाता। साहित्य-सौन्दर्य का समय अब भूतकाल के गाल में पड़ चुका था, और अब समय आ गया था ऐसे कवियों का, जो एक ओर तो अपने आश्रयादर देनेवाले राजपूत राजाओं के रण-कौशल, पराक्रम एवं प्रताप-प्रभाव का विशद वर्णन अनूठी उक्तियों के साथ करके उन्हें प्रसन्न एवं प्रोत्साहित करते हुए सदा के लिए यश-शरीर के साथ अमर करते और दूसरी ओर जनता में वीर-भाव एवं उत्साह की उमङ्गें भरते हुए स्वयमेव युद्ध-क्षेत्र में अपनी वीरोल्लासिनी कड़ियों से सैनिकों को उत्साहित कर तलवार के वार चलाते, और इस प्रकार देश, राष्ट्र (समाज) तथा धर्म की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता की रक्षा करते। अस्तु, हिन्दी के तत्कालीन कवि काव्य-साहित्य को इसी रूप में ले चले। कारण इसका यही है कि देश एवं जाति की चित्तवृत्ति के ही आधार पर वहाँ का साहित्य सदैव समाधारित होता है। जब जहाँ जैसी चित्तवृत्ति का प्राधान्य एवं प्राबल्य या प्रचार-प्राचुर्य होता है तभी वहाँ तदनुकूल साहित्य रचा जाता हुआ देखा जाता है। साहित्य-विधाता लोग देश-काल से सदैव प्रभावित होते हैं, यद्यपि वे अपनी प्रतिभा के प्रभाव से देशकाल को भी प्रभावित किया करते हैं, किन्तु यह गौण रूप में ही होता है।

इसी लिए साहित्य को देश-काल की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिम्ब कहा जाता है और उसकी परम्परा को देश-काल-व्याप्त चित्तवृत्तियों की परम्परा का प्रदर्शक माना जाता है। वस्तुतः दोनों में अन्योन्याश्रय एवं साहचर्य सम्बन्ध है, और प्रत्येक साहित्येतिहास-लेखक को इन दोनों परम्पराओं के सामञ्जस्य एवं सम्बन्ध का दिखलाना उचित एवं अनिवार्य होता है।

बड़े खेद के साथ लिखना पड़ता है कि इस काल का वीर-काव्य-साहित्य हमें सब प्रकार सुलभ नहीं है। अनेक उत्तम ग्रन्थ अभी अप्राप्त ही हैं और जो कुछ खोज करने से प्राप्त भी हो गये हैं वे भी अप्रकाशित ही पड़े हैं। वीर-काव्य के बहुत से ग्रन्थ उन राजकीय पुस्तकालयों में रक्षित रख छोड़े गये हैं (और प्राचीन पूर्वजों के स्मारक समझे जाकर किसी को दिये भी नहीं जाते) जिनमें प्राचीन महाराजाओं का वर्णन उनके आश्रित कवियों के द्वारा किया गया है, ऐसे ही कुछ और ग्रंथ चारण कवियों के उत्तराधिकारी भाटों, चारणों एवं बन्दीजनादि के पास प्राचीन पैतृक थाती के समान बड़े आदर के साथ जीविकादि के लिए रक्षित हैं। केवल थोड़े ही से ग्रन्थ प्राप्त और प्रकाशित हो सके हैं, वे भी बड़ी कठिनता से। इसी लिए इस काल के इस काव्य के सम्बन्ध में बहुत ही सूक्ष्म कथन किया जा सकता है और वह भी पूर्ण और निश्चित रूप से नहीं।

अर्थ, भेद और केन्द्र

काव्य की भिन्न भिन्न परिभाषायें भिन्न भिन्न आचार्यों एवं विद्वान् महाकवियों के द्वारा भिन्न भिन्न सिद्धान्तों के आधार पर दी गई हैं। किसी आचार्य का कहना है कि "काव्य वह है जिसमें कवि-प्रतिभाजन्य कल्पना के द्वारा किसी विषय का वर्णन एवं उससे सम्बन्ध रखनेवाले मानसिक भावों का प्रकाशन सौंदर्यानंददायक चारु चातुर्य-चमत्कार के साथ विचित्र ढंग से उपयुक्त भाषा में किया जावे।" इसलिए काव्य का प्राण वही है जिसे आचार्यों ने वक्रोक्ति या वाग्वैचित्र्य की संज्ञा दी है और जिसके आधार पर अलंकारों की सृष्टि रची गई है। कुछ विद्वानों का मत है कि काव्य वहीं जानना चाहिए जहाँ रमणीयार्थ-प्रतिपादक वाक्यावली हो ("रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्")। कुछ का सिद्धान्त है कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है ("रसात्मकम् वाक्यं काव्यम्") इसी प्रकार अन्य विद्वानों ने भी काव्य का लक्षण अपने अपने भिन्न भिन्न सिद्धान्तों के अनुसार लिखा है और इस विषय को विवाद-ग्रस्त कर दिया है। यहाँ तक तो सबका मत एक ही है कि काव्य में चमत्कृत एवं सुन्दर भाषा तथा भाव-प्रकाशक विचित्र ढङ्ग के साथ मानवीय मानसिक भावनाओं के रसों से समार्द्र विषय का वर्णन आनन्दोत्पादक प्रभाव के साथ होना चाहिए। विवाद केवल वहीं उठता है जहाँ काव्य की आत्मा अथवा उसके मूलतत्त्व का प्रश्न आता है और इसी

प्रश्न के उत्तर में भिन्न भिन्न मत हो जाते हैं। हमें यहाँ केवल यही मान लेना पर्य्याप्त है कि 'काव्य मानसिक भावों एवं भावनाओं के प्रकाशित करनेवाले सरस और भावपूर्ण शब्दों अथवा पदों का एक ऐसा सुव्यवस्थित और सुन्दर विन्यास है, जो अपने भाव एवं अर्थ से मानव-हृदय को स्पर्श करता हुआ एक विशेष प्रकार का आनन्द देता है और जो चमत्कार-चातुर्य्य के साथ ऐसे विचित्र ढङ्ग से अन्तर्जगत् और बाह्य-जगत् को संयुक्त करता है जैसा साधारण जन-समाज में नहीं पाया जाता', अस्तु—

काव्य का यह सूक्ष्म लक्षण देकर हम यहाँ पहले यह बतला देना चाहते हैं कि वीर-काव्य से हमारा क्या तात्पर्य्य है? हम "वीर-काव्य उस काव्य को कहते हैं, जिसमें किसी वीर पुरुष के वीर कृत्यों का काव्योचित भाषा, शैली एवं चमत्कार-चातुरी के साथ कवि-प्रतिभा के द्वारा रस एवं भाव-पूर्ण वर्णन किया गया हो।" हिन्दी के प्रारम्भिक काव्य-साहित्य को हम इसी रूप में पाते हैं, यद्यपि उस साहित्य को हमारे अन्य विद्वानों ने वीर-गाथा-काव्य की संज्ञा दी है किन्तु हम उसे गाथा नाम से इसलिए नहीं लिखते चूँकि संस्कृत में गाथा का प्रयोग एक दूसरे प्रकार के साहित्य के अर्थ में होता है जैसे "गाथा-सप्तसती" आदि ग्रंथों में। अब यदि हम अपने इस वीर-काव्य पर विचार करते हैं तो हमें वीर-काव्य अधोलिखित रूपों में प्राप्त होता है।

——

वीर-काव्य के रूप

(क) **कथात्मक**—जिसमें किसी वीर पुरुष के जीवन को वीरतापूर्ण घटनाओं या विजयों का वर्णन हो, इसे हम "जय-काव्य" भी कह सकते हैं। इसमें अभीष्ट वीर पुरुष की विजय का प्रशंसापूर्ण वर्णन, ओजस्विनी एवं प्रोत्साहिनी भाषा में किया जाता है।

१—यदि कई वीर पुरुषों की वीर-घटनाओं (युद्धों) का वर्णन साथ ही साथ किया जाता है तो वह इसका द्वितीय रूप और यदिः—

२—किसी वीर पुरुष के वीर-वंश का वर्णन किया जाता है तो वह इसका तृतीय रूप होता है।

(ख) **प्रबन्धात्मक**—वीर-काव्य का इसे वह रूप जानना चाहिए जिसमें वीर-रस-पूर्ण एक कल्पित प्रबन्ध बाँधा जाय और जिसमें उदाहरण के रूप में किसी वीर एवं उसकी वीर घटनाओं का उल्लेख किया जाय।

(ग) **मुक्तक**—जिसमें समुत्तेजक एवं प्रोत्साहक स्फुट छन्दों के द्वारा हृदय में वीर-रस का उद्रेक कराया जाय। इसके लिए किसी वीर की घटनाओं के वर्णन की आवश्यकता नहीं है, हाँ, इसमें वीररसोत्पादक भावों तथा विचारों को पूर्ण प्राधान्य देना अनिवार्य्य है।

(घ) **गीत-काव्य**—उक्त वीर-काव्यों को साहित्यिकछन्दों में न लिख कर जब गीतों या संगीतात्मक पद्यों में लिखते हैं तब उन्हें वीर-गीत-काव्य का रूप प्राप्त होता है।

वीर-काव्य की भाषा

वीर-काव्य की भाषा एवं शैली ऐसी ही होनी चाहिए कि उससे हृदय में उत्साह, साहस एवं उत्तेजना की उमङ्गें तरङ्गित होने लगें। काव्य-शास्त्र में वीर-रस के लिए 'परुषावृत्ति', 'ओजगुण' और महाप्राण वर्ण-युक्त 'पांचाली' रीति ही उपयुक्त मानी गई है। छन्दःशास्त्र के अनुसार वीर-काव्य के लिए कोई विशेष छन्द निश्चित नहीं किया गया किन्तु अनुभव से ज्ञात होता है कि वीर-काव्य के लिए प्रायः गीत, वीर या आल्हा छन्द, छप्पय और कवित्त या घनाक्षरी विशेपरूप से उपयुक्त जँचते हैं।

अब यदि हम अपने प्राचीन वीर-साहित्य को देखें तो ज्ञात होता है कि वह प्रबन्धात्मक और मुक्तक दोनों प्रकार के रूपों में पाया जाता है और कुछ अंशों में वह वीर-गीतों (Ballads) में भी लिखा गया है। किन्तु प्रथम दो रूप जैसी साहित्यिक क्षमता रखते हैं वैसी तृतीय रूप में नहीं पाई जाती। साहित्यिक प्रबन्धात्मक वीर-काव्य का तो सबसे प्रधान ग्रन्थ चन्द्रकवि-कृत "पृथ्वीराजरासो" ही उपलब्ध है और गीतकाव्यात्मक वीर-काव्य का प्राचीन ग्रंथ "वीसलदेवरासो" ही प्राप्त होता है।

कथात्मक वीर-काव्य में युद्ध और प्रेम दोनों के प्रसंग मिलते हैं और प्रायः राज-कन्यापहरण-युद्ध तथा तदुपरान्त विवाह आदि के साथ दाम्पत्य-जीवन का शृङ्गारात्मक वर्णन ही प्रधानता के साथ पाया जाता है। राजनैतिक कारणों से होनेवाले युद्धों का प्रदर्शन बहुत ही कम किया गया है और जहाँ कहीं किया भी गया है वहाँ उन युद्धों का मूल कारण किसी सुन्दर स्त्री में ही दिखलाया गया है और एतदर्थ कतिपय घटनाओं की कल्पित योजना भी कर ली गई है। साथ ही इस काव्य में जहाँ भी वीर-विजय का वर्णन आया है वहीं विचित्र उक्तियों एवं अतिशयोक्ति के साथ राजा के पराक्रम और शौर्य्य की प्रशंसा की गई है। घटनाओं की तिथियाँ एवं उनके संवत्-समय प्रायः ऐतिहासिक औचित्य के साथ दिये गये हुए नहीं प्राप्त होते। ऐसा होते हुए भी इनमें काव्य-तत्त्व के साथ ऐतिहासिक तत्त्व भी पर्याप्त रूप में पाया जाता है। ऐतिहासिक घटनाओं के तथ्यों पर ही प्रधानतया यह वीर-काव्य समाधारित रक्खा गया है।

इस काव्य की भाषा के सम्बन्ध में व्यापक रूप से यही कहा जा सकता है कि इसके गीतात्मक रूप की भाषा में, चूँकि उसका प्रचार देश की साधारण जनता में बराबर रहा है, और लोग उसे गाते चले आये हैं, बहुत हेर-फेर या परिवतन हुआ है, और वह अपने वास्तविक रूप में हमें अब नहीं प्राप्त होती। इतना अवश्य प्रतीत होता है कि इसमें राजपूतानी भाषा (जिसमें प्राकृत और

अपभ्रंश का विशेष मेल है) का ही पूरा प्राधान्य है और जन-साधारण की ही भाषा का प्राचुर्य है क्योंकि गीत-काव्य के रूप में रखा जाकर यह जनता के गाने के लिए ही रचा गया था और इसके रचयिता भी साधारण श्रेणी के ही चारण या भाट लोग होते थे। अस्तु काव्य-कौशल भी इसमें बहुत ही कम पाया जाता है। सब प्रकार प्रान्तीयता की पूरी पुट पाई जाती है।

कहीं कहीं फ़ारसी भाषा के भी दो-एक शब्द, जो बहुत प्रचलित हो गये थे, पाये जाते हैं, किन्तु वे प्रायः देशज रूप में परिवर्तित करके ही रक्खे गये हैं।

वीर-काव्य के प्रबंधात्मक (साहित्यिक) कथा-काव्य में उक्त बातें इस रूप में नहीं पाई जातीं। इसमें साहित्यिक क्षमता, शिष्टता तथा काव्य-कला का अच्छा रूप मिलता है। इसमें साहित्यिक छंदों—दोहा (दूहा) चौपाई, छप्पय, तोटक, पद्धरी, कवित्त, भुजंगी आदि—का उपयोग किया गया है, और भाषा भी साहित्यिक रूपवाली और कवि-समाज-प्रचलित काव्य-भाषा सी है। हाँ इस पर भी अपभ्रंश और प्राकृत का पूरा रंग चढ़ा हुआ है। राजस्थान की साहित्यिक व्रजभाषा का, जिसे पिंगल कहा जाता था, ही प्राधान्य है। सानुस्वार वर्णों, संयुक्ताक्षरों, तथा प्रान्तीय प्रयोगों का कुछ प्राचुर्य सा है। कहीं कहीं तो भाषा आधुनिक रूप में भी मिलती है, जिससे भाषा की शुद्धता में संदेह हो जाता है। सत्यता यही जान पड़ती है कि इस प्रकार के काव्य-ग्रंथों में बहुत कुछ रूपान्तर या परिवर्तन हुए हैं और वे अब अपने मूल रूपों में

हमें प्राप्त नहीं होते, इसलिए इनकी विवेचना या आलोचना भी निश्चयपूर्वक नहीं की जा सकती।

इनके देखने से इन मुख्य बातों का अनुमान किया जा सकता है:—

१—वीर-काव्य के समय में भाषा के दो मुख्य रूप हो गये थे:— अ–एक जन-साधारण की अपभ्रंश-प्रभावित राजस्थानी भाषा या बोली, जिसे डिंगल कहते थे, और जिसमें प्रान्तीयता का पूरा प्राधान्य रहता था। ब—शिष्ट तथा स्थायी साहित्य के उपयुक्त एक व्यापक तथा सर्व-सामान्य व्रजभाषा-प्रभावित काव्य-भाषा, जिसे 'पिंगल' कहते थे।

२—वर्णिक वृत्तों की अपेक्षा प्राकृत एवं अपभ्रंश-काल में विकसित तथा प्रचलित होनेवाले मात्रिक वृत्तों (छंदों) को साहित्य में विशेष प्रधानता मिलने लगी थी। काव्य-कला का भी प्रचार-प्राधान्य बढ़ चला था, तथा व्रजभाषा को साहित्यिक काव्य-भाषा का स्थान या गौरव प्राप्त होने लगा था।

३—मुसलमानों के प्रभाव से भाषा और साहित्य में भी कुछ रूपान्तर हो चला था, फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भी, उन्हें कुछ देशज रूप में बदलने के बाद, जहाँ तहाँ हो चला था।

४—साहित्यिक रचनाओं में शिष्ट, संयत और व्याकरणानुमोदित पिंगल नामक साहित्यिक भाषा, जो व्रज-भाषा से पूर्ण प्रभावित होती हुई प्राकृत और अपभ्रंश के भी कुछ चिर-

प्रचलित तथा कवि-परम्परा-सम्मत तत्त्व रखती थी, और जन-साधारण के उपयुक्त गीत-काव्य की रचनाओं में साधारण बोली या डिंगल प्रयुक्त होती थी।

५—साहित्यिक रचनाओं में अंत्यानुप्रास, तुक, अलंकार और छंदोविधान का बहुत ध्यान रक्खा जाता था, काव्य-चातुर्य तथा रचना-चमत्कार को भी विशेषता दी जाती थी। गीत-काव्य में स्वाभाविकता, भाषा की स्वच्छन्दता और भावाभि-व्यंजन पर ही पूरा विचार किया जाता था, रचना इसकी साधारणतया गाये जानेवाले छंदों में, जिनमें छंदः-शास्त्र का नियंत्रण न रहता था, वरन् जिनमें मुक्तप्रवाह तुकानुप्रासादि-विहीनता रहती थी, होती थी। काव्य-कला-कौशल भी इसमें न रहता था और यह सब रहता भी कैसे, जब गीत-काव्य की रचना साधारण श्रेणी के भाटों या चारणों ने, जिनमें छंदःशास्त्र, भाषा-व्याकरण तथा काव्य-शास्त्र आदि का यथेष्ट ज्ञान ही न रहता था, की थी। हाँ, इसमें ओज और प्रसाद गुण, इसकी भाषा-स्वच्छन्दता, भावों की अकृत्रिमता और रचना की स्वाभाविकता के कारण विशेष रूप में रहते थे।

६—वीर-काव्य में वीर (रौद्र, भयानक, बीभत्स, कहीं कहीं करुणा) और इसके साथ ही साथ शृंगार-रस भी रहता था, क्योंकि युद्ध के पश्चात् वीरों को विश्रामावसर में प्रेम, विलास, एवं शृंगारानन्द ही मन बहलाव के लिए रुचते हैं और यह स्वाभाविक भी है।

७—प्रबन्धात्मक वीर-काव्य में तो कवि-कल्पना, ऐतिहासिक तथ्य और महाकाव्य के कुछ गुण पाये जाते हैं, उसमें वीर-प्रशंसा तथा जीवन की प्रमुख घटनायें, अतिशयोक्ति और वाग्वैचित्र्य के साथ रक्खी गई हैं, किन्तु गीत-काव्य में उत्तेजक और वीर-रसोद्दीपक भावों की अभिव्यञ्जना जन-तोपयुक्त साधारण भाषा में स्वाभाविकता और सरलता के साथ दी गई है।

८—वीर-काव्य के काल में देश में न केवल मुसलमानों के आक्रमणों से ही अशान्ति फैल रही थी वरन् देश के भिन्न भिन्न क्षत्रिय राजाओं की पारस्परिक कलह से भी देश सुख-विहीन हो रहा था।

९—स्वयंवर की प्रथा कम हो चली थी और उसके स्थान पर वीर राजाओं ने कन्यापहरण की परिपाटी सी चला दी थी। इसका परिणाम युद्ध के रूप में भी हुआ करता था।

१०—क्षत्रियों का बल पारस्परिककलह से क्षीण हो चला था और देश में वैमनस्य तथा अनैक्य बढ़ रहा था। जनता राज-नैतिक बातों से सर्वथा परे रहती थी। मुसलमानों की शक्ति क्रमशः बढ़ चली थी।

इस सूक्ष्म विवेचन के पश्चात् अब हम वीर-काव्य के ग्रन्थों और उनके कवियों का संक्षिप्त परिचय देते हैं:—

———

वीर-काव्य के प्रमुख ग्रन्थ और कवि

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वीर-काव्य प्रबन्धात्मक और मुक्तक या गीतात्मक दो रूपों में मिलता है। कुछ लोगों का विचार है कि गीत-काव्य की ही रचना इस काल में प्रथम प्रारम्भ हुई होगी और प्रबन्धात्मक की अपेक्षा अधिक भी हुई होगी। हो सकता है कि यह अनुमान कुछ अंश तक सही हो, किन्तु हमारा विचार यह है कि संस्कृत में प्रबन्धात्मक महाकाव्यों की परिपाटी पहले ही से बनी हुई थी और उसी के आधार पर हिन्दी में भी पृथ्वीराजरासो जैसे प्रबन्धात्मक वीर-काव्यों की रचना की गई थी। गीत-काव्यों की रचना भी वीरों को प्रोत्साहित करने, उन्हें कीर्ति-काव्य-कलेवर में चिरजीवित रखने तथा उनकी प्रशस्तियाँ बनाने के लिए उक्त रासो ग्रन्थों के साथ होती थी।

चूँकि यह काव्य केवल गाने के लिए ही बनाया जाता था इसलिए इसमें साहित्यिक क्षमता न रहती थी। यह लिपिबद्ध भी न होता था वरन् भाटों और चारणों में ही मौखिक रूप से रहता था, यही कारण है कि इसका बहुत थोड़ा अंश अब पाया जाता है, अधिकांश तो काल-गाल या भूत-गर्भ में ही समा गया है। मौखिक रूप से जनता में प्रचलित होने के कारण इसकी भाषा, घटना-संक्रमण आदि में बहुत बड़ा हेर-फेर हो गया है और यह अपने असली रूप में न प्राप्त होकर संदिग्ध सा मिलता है। अस्तु, इसकी वास्तविक आलोचना नहीं की जा सकती।

गीत-काव्य के गुण—इस काव्य के मुख्य गुण हैं:—(१) भावों का सरल और स्वाभाविक उद्वेग। (२) वीररसोद्दीपक विचार और युद्ध की अनुभूति-व्यञ्जना। (३) भाषा में स्वच्छन्द प्रवाह। (४) ओज और उत्तेजक तीव्रता। (५) नियमों के बन्धनों से उत्पन्न होनेवाली जटिलता, काव्य-कौशलकृत दुरूहता और शिथिलता आदि दुर्गुणों की अविद्यमानता। (६) वीर कृत्यों के साथ ही साथ उनके आधारभूत प्रेमानन्द के मूल-रहस्यों की सरस और मधुर व्यञ्जना।

ऐसे ही गुणों के कारण वीर-गीतों का प्रचार जनता में जितना अधिक हुआ उतना वीर-काव्य का नहीं। हाँ, साहित्यिक क्षमता में वीर-गीत अवश्य ही काव्य से हीनतर रहे।

वीर-गीत-काव्य के ग्रन्थ—वीसलदेवरासो।

गीत-काव्य की शैली से इसकी रचना संवत् १२१२ में हुई। इसका रचयिता नरपति नाल्ह नामी कवि था, जो वीसलदेव या विग्रहराज चतुर्थ का समकालीन राजकवि था। इसमें चार खंड हैं। प्रथम में मालवेश श्रीभोज की कन्या राजमती के साथ वीसलदेव के विवाह का, द्वितीय में उनकी उड़ीसा की चढ़ाई और युद्ध में उनकी विजय का, तृतीय में राजमती के वियोग का तथा चतुर्थ में राजमती के मायके जाने और वीसलदेव के उन्हें फिर ले आने का वर्णन है। वीसलदेव ने मुसलमानों को जिन युद्धों में

वीरता से हराया उनका जो वर्णन राजकवि श्रीसोमकृत 'ललित-विग्रहराज नाटक' में है वह इसमें नहीं है। इसमें प्रेम (शृङ्गार) का ही प्राधान्य है।

इसकी भाषा—इसकी भाषा विशेष रूप से राजस्थान की डिंगल भाषा ही है। वह कहीं कहीं प्राचीन व्रजभाषा या पिंगल से भी प्रभावित है। चूँकि इसमें बहुत कुछ हेर-फेर और परिवर्तन हुआ है इसलिए इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

आल्हा:—यह गीतकाव्य सबसे अधिक प्रचलित, लोकप्रिय और विख्यात है। उत्तरीय भारत में यह बड़े चाव से अब तक गाया जाता है। इसी लिए इसमें गायकों और लेखकों की भिन्न रुचि से इतना विशाल परिवर्तन हो गया है कि इसका असली रूप रह ही नहीं गया। भिन्न भिन्न प्रान्तों के गायकों ने इसे अपने अपने प्रान्तीय ढंगों में ढाल लिया है, अस्तु इसकी भाषा, शैली आदि सभी में प्रान्तीयता भरी हुई है। चूँकि इसमें साहित्यिक क्षमता नहीं है इसलिए यह पठित-समाज के द्वारा संरक्षित और सम्मानित न हो सका। इसमें महोबा-नरेश परिमल चन्देल के सामन्त और सेनापति आल्हा तथा ऊदल (और उनके कुटुम्बियों) की वीर-गाथायें बड़ी ही ओजस्विनी और प्रभावमयी भाषा में हैं। यह वीरछन्द में ही विशेषरूप से लिखा गया है। कहीं कहीं दोहा आदि कुछ साधारण छन्द भी जोड़ दिये गये हैं। इसे जगनक नामी कवि ने लिखा था, किन्तु

उसका रचा हुआ आल्हा अब नहीं मिलता। ६० या ७० वर्ष पूर्व Charles Ylliet चार्ल्स इलियट ने इसे संगृहीत करके छपवाया, इसके पूर्व यह केवल गाया ही जाता था।

प्रबन्धात्मक वीर-काव्यः—वीर-काव्य का यह वह रूप है जो संस्कृत के महाकाव्यों की शैली से साहित्यिक आदर्श के साथ प्रबन्धात्मक शैली से पिङ्गल नामक साहित्यिक व्रजभाषा में लिखा गया है। इस काव्य के कई ग्रन्थ हैं और रासो कहलाते हैं। सबसे प्रधान ग्रन्थ पृथ्वीराजरासो है।

पृथ्वीराजरासोः—महाराज पृथ्वीराज के सामन्त, मित्र और महाकवि चन्द्रबरदायी ने इसे रचा था। कहते हैं कि इसका उत्तरार्द्ध भाग चन्द्रबरदायी के सुपुत्र कविवर 'जल्हण' का रचा हुआ है। इसका रचना-काल बहुत विवाद-ग्रस्त है। चन्द्रजी जजात गोत्रीय भट्टकुल के थे। इनका जन्म लाहौर में हुआ था। कहते हैं कि पृथ्वीराज और इन दोनों के जन्म और मरण एक ही समय में हुआ। ये अनेक विषयों के ज्ञाता थे, जालन्धरी देवी का इन्हें इष्ट भी था।

इस रासो की जो प्रति अब प्राप्त होती है उसमें ७९ समय अथवा सर्ग तथा लगभग २५०० पृष्ठ हैं।

आलोचनः—इसमें साहित्यिक काव्य के सभी उत्कृष्ट गुण पाये जाते हैं। साहित्यिक छन्द, जो उस समय विशेष प्रचलित थे और जो वीर-रस के उपयुक्त हैं, इसमें चारुता से रक्खे गये हैं। मुख्य मुख्य छन्द हैं:—कवित्त, छप्पय, दूहा, तोमर, त्रोटक,

गाहा और आर्य्या। इस बृहत्-ग्रन्थ में सम्राट् पृथ्वीराज चौहान का विस्तृत वीर-चरित्र या जीवन, उनकी वंश-परम्परा के प्रारम्भ से लेकर उनके अन्तिम काल तक का वर्णन दिया गया है। जीवन की सभी मुख्य घटनाओं और युद्धों का चित्रण काव्य-कौशल के साथ इसमें पाया जाता है। तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों एवं अन्य ऐतिहासिक बातों का भी प्रसंगानुकूल उल्लेख तो किया गया है, किन्तु इसके संवत् आदि इतिहास के संवतों से नहीं मिलते। इसमें भाषा का सौष्ठव, काव्य-कला का कौशल, और विविध रसों का परिपाक अच्छे रूप में मिलता है। वीर-भावों की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ शृङ्गार-रस-मूलक कोमल-कल्पनायें और प्रेम की मनोहर व्यञ्जना भी इसमें उक्ति-चमत्कार के साथ पाई जाती है। इसी लिए इसको उस काल का महाकाव्य कहते हैं।

इसकी भाषा—इसकी भाषा बहुत ही संदिग्ध और गड़बड़ है। सानुस्वार और संयुक्त वर्णों का प्रयोग विशेष किया गया है, प्राकृत और अपभ्रंश की इसमें पूरी पुट है। बहुत सा अंश तो इसका क्षेपक जान पड़ता है। ऐसे ही स्थानों में भाषा कुछ आधुनिक रूप की हो गई है। चूँकि यह अपने असली रूप में नहीं मिलता इसलिए इसकी विवेचना भी यथार्थ रूप से नहीं की जा सकती।

पृथ्वीराजरासो के अतिरिक्त **खुमानरासो**, **हम्मीररासो** (सारङ्गधरकृत सं० १३५७ का) और नल्हसिंह भट्टकृत **विजयपाल-रासो** भी उल्लेखनीय हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि

राजस्थान में वीर-काव्य के रासो नामी प्रबन्धात्मक वीर-काव्य की यह परम्परा लगभग १४०० ईसवी तक चलती रही।

वीर-काव्यावसान

जिस प्रकार हिन्दी में वीर-काव्यों की रचना हो रही थी उसी प्रकार संस्कृत में भी वीर-काव्य लिखे जा रहे थे। पृथ्वीराज-विजय, जयचन्द-प्रकाश और हम्मीर-प्रकाश जैसे ग्रन्थ (काव्य) इसके उदाहरण हैं। महाराज हम्मीर के पश्चात् जैसे क्षत्रिय सम्राटों और साम्राज्यों का अन्त सा होगया वैसे ही हम्मीररासो के पश्चात् वीर-काव्य के रासो ग्रंथों की भी रचना-परम्परा का अन्त सा होगया। वीर-काव्य की धारा बहुत शिथिल और क्षीण हो गई, हाँ, उसका नितान्त लोप न हुआ, और वह अन्य कालों में कुछ रूपान्तरों के साथ हीन-क्षीण दशा में दिखाई पड़ती रही।

वीर-काव्य की परम्परा लगभग ११०० से १४०० तक अच्छे रूप में चलकर शिथिल हुई। देश की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों में इतने ही दिनों के भीतर बड़े विशाल परिवर्तन हो गये। राजपूतों का साम्राज्य न रह गया, उसके स्थान पर पठानों या अफ़ग़ानों का राज्य स्थापित होगया जिससे देश की राजनैतिक स्वतंत्र-सत्ता का लोप सा होगया। अब ऐसे वीर

सम्राट् न रह गये, जनता और कवियों में वह आवेश भी न शेष रहा और कवियों में वीर-जीवन को उत्तेजना देनेवाली वह उमङ्ग भी न रह गई, जिससे वीर-काव्य की रचना-परम्परा अबाध रूप से चल सकती। मुसलमान-साम्राज्य की परतन्त्रता में रह कर कवियों के लिए अपने वीर राजाओं का यशोगान करना असम्भव सा हो गया।

सब ओर परिवर्तन होने से देश और समाज की चित्त-वृत्ति और विचार-धारा में भी परिवर्तन आ गया। अस्तु, साहित्य की प्रगति में भी रूपान्तर का होना अनिवार्य्य हो गया। पराजित और दुखी जनता को ईश्वर का ही एक सहारा रह जाता है, उसी के गुण-स्तवन एवं चिन्तन में उसे शान्ति एवं सान्त्वना मिलती है, इसी लिए जनता भक्ति और प्रेम की ओर प्रोन्मुख हो चली।

मुसलमानों के द्वारा अपने धर्म पर आघात होते देखकर उसकी रक्षा के लिए धार्मिक काव्य की सहायता से धार्मिक आन्दोलन करना भी हिन्दुओं को अनिवार्य्य ठहरा। मुसलमानों की चित्तवृत्ति सफ-लता पाने के पश्चात् हास-विलास, प्रेम-शृङ्गार और आमोद-प्रमोद की ओर झुक चली थी, इसी से मुसलमान कवियों ने प्रेमात्मक कथा-काव्य की परिपाटी प्रारम्भ कर दी थी। हिन्दुओं के साथ रह कर राज्य करने के लिए यह आवश्यक था कि मुसलमान अपने को हिन्दी-भाषा, हिन्दू-सभ्यता और हिन्दू-संस्कृति से परि-चित करते और हिन्दुओं को भी अपनी भाषा (फ़ारसी) और सभ्यता आदि सिखलाते। यह समय इसलिए दो भिन्न प्रकार

की जातियों, सभ्यताओं, शैलियों, दो धर्मों और साहित्यों (भाषाओं और भाव-धाराओं) के सम्पर्क-सम्मेलन का था, इसी लिए दोनों एक दूसरे से पूर्ण प्रभावित हो चले।

साहित्य-रचना-केन्द्र—चूँकि अब धार्मिक प्रचार का प्राबल्य एवं प्राधान्य हो चला था, इसलिए अब साहित्य-रचना का कार्य्य उन स्थानों में ही होने लगा जो धर्म से सम्बन्ध रखते थे अर्थात् जो तीर्थ थे, धर्म-क्षेत्र थे अथवा ईश्वरावतारों के लीला-धाम थे। जैसा आगे कहा जायगा इस धार्मिक जाग्रति के दो रूप हुए (१) प्रथम में तो कृष्णोपासना का और (२) द्वितीय में रामोपासना का प्राधान्य हुआ। अस्तु, इन्हीं दोनों के ब्रज और अवध नामी लीला-धामों में साहित्य-रचना के केन्द्र बन गये।

दिल्ली और आगरे के समीप तथा लखनऊ और जौनपुर आदि मुसलमानी प्रान्तों के पास मुसलमानों के द्वारा साहित्य-रचना के पृथक् केन्द्र तैयार किये गये; साथ ही सन्तों के द्वारा इधर-उधर स्फुट नगरों और ग्रामों में भी साहित्य-रचना का कुछ कार्य्य हो चला।

भाषा-परिवर्तन—रचना-केन्द्रों के ही अनुसार धार्मिक-प्रचार को प्रधानता देकर महात्माओं ने प्रान्तीय बोलियों की सहायता से धार्मिक-काव्य का लिखना प्रारम्भ किया। कृष्ण-भक्त कवियों ने ब्रज-प्रान्त की ब्रज-भाषा में, राम-भक्त कवियों ने अवधी में तथा सन्तों ने अपनी अपनी प्रान्तीय बोलियों में ब्रजभाषादि की पुट रखते हुए अपने अपने काव्य लिखे।

कृष्ण-भक्त कवियों को सरस-प्रेम और भावुकतामयी भक्ति की मर्मस्पर्शिनी अनुभूति-व्यञ्जना के कारण विशेष सफलता मिली। पद-शैली के प्रभाव से कृष्ण-काव्य सर्वत्र गूँज उठा, जिससे व्रज-भाषा का प्रचार अवधी आदि की अपेक्षा अधिक विस्तृत और व्यापक हो गया। वीर-काव्य के समय से ही व्रजभाषा में उन्नति हो चली थी, अब तक में व्रजभाषा बहुत कुछ विकसित होकर काव्य के लिए अति उपयुक्त हो गई। बस साहित्यिक काव्य की वही एक सर्वमान्य व्यापक भाषा होने का गौरव प्राप्त कर सकी और पूर्व में बिहार, दक्षिण में महाराष्ट्र, पश्चिम में राज-स्थान तथा उत्तर में हरद्वार आदि तक फैल गई, और कवि लोग इसी भाषा को अपनाकर इसी में रचना करने लगे।

इस प्राक्कथन के पश्चात् हम अब आगे हिन्दी-साहित्य के द्वितीय या मध्यकाल की विवेचना करेंगे।

अभ्यास

१—हिन्दी-साहित्य की प्रारम्भिक दशा का सूक्ष्म परिचय दो।

२—वीर-काव्य से क्या तात्पर्य्य है, उसके भेदोपभेद यहाँ किस प्रकार दिखलाये गये हैं ?

३—वीर-काव्य की भाषा के सम्बन्ध में तुमने क्या पढ़ा है ?

४—किन प्रधान रचना-शैलियों से वीर-काव्य के किन प्रधान ग्रंथों की रचना हुई है—स्पष्ट रूप से लिखो।

५—पृथ्वीराजरासो की किन विशेषताओं का यहाँ उल्लेख किया गया है ?

६—वीर-काव्यों से जिस प्रकार के अनुमान किये गये हैं उन्हें मनन करो।

७—वीर-काव्य के अवसान में साहित्य-रचना के केन्द्रों में क्यों और कैसा हेर-फेर हुआ है ?

८—किन परिस्थितियों के प्रभाव से साहित्यिक प्रगति में किस प्रकार के परिवर्तन हुए हैं ?

(अ) किन भाषाओं का साहित्य में किस लिए प्रचार किया गया है ?

(ब) वीर-काव्य की परम्परा में क्यों क्षीणता आई है ?

(स) व्रज-भाषा की क्या अवस्था हो चली थी ?

द्वितीय अध्याय

मध्य-काल

इसके पहले कि हम धार्मिक काव्य का विवेचन करें, हम यहाँ विषय-प्रवेश के रूप में कुछ प्रारम्भिक ज्ञातव्य बातों का देना उचित समझते हैं।

गद्य—वीर-काव्य के अवसान में गद्य का भी कुछ प्रारम्भिक रूप देखा जाता है। संवत् १४०७ में **महात्मा गोरखनाथ** ने हिन्दी-गद्य में रचना करना प्रारम्भ किया था और भगवान् बुद्ध जैसे अपने पूर्ववर्ती मत-प्रवर्तकों की भाँति जन-साधारण की ही भाषा को उठाया था। कोई भी धार्मिक अथवा नैतिक आन्दोलन हो, उसका विस्तार-प्रसार तभी हो सकता है, जब वह जन-साधारण की भाषा का सहारा ले। भाषा इसीप्रकार साधारण जनता के क्षेत्र से उठकर महापुरुषों के द्वारा साहित्यिक रूप प्राप्त करती है। महात्मा गोरखनाथ को इसी लिए गद्य का सर्व-प्रथम लेक खया प्रवर्तक मानते हैं। चूँकि व्रजभाषा उस समय सर्वमान्य साहित्यिक काव्य-भाषा थी इसलिए इसकी पूरी पुट गोरखनाथ को प्रान्तीय भाषा में मिलती है। इन्हीं ने साहित्य-रचना के कार्य्य

को, जो पश्चिमीय प्रान्त में केन्द्रीभूत हो रहा था, पूर्वीय प्रान्त या अवध में भी फैला दिया। आगे चल कर इस प्रान्त में साहित्यिक कार्य्य ख़ूब हुआ और अवधी भाषा उठ खड़ी हुई।

यह स्मरण रखना चाहिए कि उस समय पारस्परिक सम्पर्क के विधानों की संकीर्णता के कारण भिन्न भिन्न प्रान्तों की बोलियों में अथवा उनके प्रभाव से प्रभावित व्रजभाषा के रूपान्तर में साहित्यिक रचना-कार्य होता था। यह स्वाभाविक है कि लेखक अपने देश, काल और समाज के प्रभाव से दूर नहीं रह सकता। उसकी प्रान्तीय भाषा उसकी रचना में उस समय तक अवश्य आ जाती है जब तक वह साहित्यिक भाषा की एकरूपता से पूर्ण परिचित नहीं होता। रामानन्दीय और वल्लभीय सम्प्रदायों की प्रतिद्वन्दिता ने अवधी और व्रजभाषा को स्वतन्त्रता के साथ विकसित होने में बड़ी सहायता दी है।

उर्दू और खड़ी बोली--जिस प्रकार उक्त दो भाषायें विकसित हुई हैं उसी प्रकार मुसलमानों के कारण फ़ारसी और पञ्जाबी भाषाओं से प्रभावित होकर हिन्दी से उर्दू और उससे आगे चल कर कुछ विशेषता के साथ (संस्कृत के प्रभाव से) खड़ी बोली का विकास हुआ है। मुसलमानों ने उर्दू को फ़ारसी के साँचे में ढाल कर हिन्दी से पूर्णतया पृथक् सा कर लिया और फ़ारसी-साहित्य से प्रभावित होकर उर्दू-साहित्य को भी स्वतन्त्र सत्ता दे दी।

खड़ी बोली बहुत दिनों तक केवल नागरी भाषा के ही रूप में लोक-व्यवहार की भाषा सी बनी रही और आधुनिक समय के प्रारम्भ (सन् १८५० के लगभग) से विकसित होकर अब इस रूप में आ गई है।

संस्कृत और फ़ारसी—व्यावहारिक सरलता के लिए तो मुसलमानों ने उर्दू का प्रचार किया किन्तु उन्होंने फारसी को राज तथा शिष्ट-समाज की भाषा के रूप में बना ही रक्खा। मुसलमानी दर्बारों में इसका ख़ूब प्रचार रहा। आगे टोडरमल के प्रभाव से यह राज-भाषा के रूप से देश में भी प्रचलित हुई।

संस्कृत अब तक राज-दरबारों में अपनी पूरी महत्ता रखती थी, पण्डित-समाज में इसी का प्रचार था। हाँ, प्राकृत और अपभ्रंश का लोप ही सा हो चुका था, हिन्दी में रचना करना अच्छा न समझा जाता था, जैसा केशवदास और तुलसीदासजी के ग्रंथों से ज्ञात होता है, किन्तु साधारण जनता में हिन्दी का प्रचार-प्रस्तार बढ़ रहा था जिससे संस्कृत की प्रगति-सीमा संकीर्ण होती जाती थी, किन्तु संस्कृत हिन्दी को पूर्ण रूप से सहायता देती थी, और हिन्दी का साहित्य उसी के आधार पर चल रहा था।

खड़ी बोली और ख़ुसरो—ख़ुसरो की पहेलियों और मुकरियों आदि में जो भाषा मिलती है उसे खड़ी बोली का प्रारम्भिक रूप कह सकते हैं। ख़ालकबारी नामी कोष इन्होंने मुसलमानों को देश-भाषा और हिन्दुओं को फ़ारसी से परिचित कराने के लिए लिखा था। खुसरो फ़ारसी के अच्छे कवि थे। जहाँ

तक सम्भव है इनकी रचनाओं में भी बहुत कुछ हेर-फेर हुआ है। इसलिए निश्चित-रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कहना चाहिए कि ख़ुसरो ने उस उर्दू का ही प्रयोग किया है जिसमें फ़ारसी और हिन्दी के आदान-प्रदान का प्रभाव है और जो एक मिश्रित भाषा है। फिर भी ख़ुसरो को खड़ी बोली का प्रथम कवि कहा गया है।

राजनैतिक दशा

माध्यमिक-काल (लगभग १४०० ई० से १६०० ई० तक) में राजनैतिक परिस्थितियाँ बहुत कुछ परिवर्तित हुई हैं। १५२१ ई० तक तो उन अफ़ग़ानों का राज्य रहा जिनके कारण देश में सर्वत्र अशान्ति सी ही फैली रही और ऐसी दशा में साहित्य-रचना का कार्य्य सुचारुरूप से न हो सका। क्षत्रियों ने अत्यन्त त्रस्त होकर सङ्गठन-साहाय्य से अपनी शक्ति बढ़ाई और राजपूताने को फिर राजस्थान बना लिया, इसलिए वहाँ कुछ साहित्य-चर्चा हो चली। भोग-विलासादि से पठानों की शक्ति कम हो गई, उनके दुर्व्यवहार से जनता ने भी उनकी सहायता न की। अस्तु; देश में मुग़लों का साम्राज्य स्थापित हो गया। राजपूतों ने पठान-युद्ध से मुग़लों को कुछ शक्तिहीन हुआ समझ उनसे युद्ध किया किन्तु दैवात् उन्हें हरा न पाया। आगे मुग़लों के जो युद्ध हुए वे ऐसे ही हुए कि उनका प्रभाव जनता पर कुछ अधिक न पड़ा।

प्रेम-काव्य—हम कह चुके हैं कि मुसलमानों ने राज्य स्थापित कर अपने जीवन को विलासमय बना दिया था। प्रेम और शृङ्गार की ओर उनकी प्रवृत्ति बढ़ रही थी। अस्तु, उस समय के मुसलमान कवियों की रचनाओं में प्रेम की धारा ही का प्राधान्य पाया जाता है। उन्होंने फ़ारसी-साहित्य की काव्य-परम्परा का भारतीय प्रेम-कथाओं में आभास देते हुए प्रेमात्मक कथा-काव्य की रचना की है, और हिन्दू-मुसलिम दोनों तत्त्वों का सामञ्जस्य सा किया है। प्रचार के उद्देश्य से इन्होंने देश की ठेठ भाषा ही उठाई है, और विशेषता अवधी को दी है। साहित्यिक ब्रजभाषा से यह पूर्ण परिचित न थे और न शीघ्र हो ही सकते थे। चूँकि और लोग राज-काज (प्रबन्ध एवं युद्ध आदि) में लगे रहते थे इसलिए प्रायः फ़क़ीर लोग ही इस काव्य के रचना-क्षेत्र में कार्य करते थे, यही कारण है कि इस काव्य में फ़ारसी और भारतीय दोनों के भावों से मिले हुए सूफ़ी-सिद्धान्त या मत का प्राधान्य है। लौकिकता की ओर से इस काव्य का प्रेम अलौकिकता की ओर चलता हुआ रहस्य-वाद में रूपान्तरित हो जाता है। सूफ़ी फ़क़ीर-कवियों ने अपने काव्य को विशेषतया अन्योक्ति-संश्लिष्ट (Allegorical) ही सा रक्खा है, और मानसिक भावना के पक्ष को प्रधानता दी है। अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् का सम्बन्ध स्थापित करते हुए मर्मस्पर्शिनी भावानुभूति की व्यञ्जना के साथ आत्मा और परमात्मा को प्रेमी और प्रेमिका के रूप में चित्रित किया है। लौकिक सौन्दर्य्य तथा आनन्द से चल कर ये

अलौकिक सौन्दर्य्यानन्द की अतीत और अनन्त विश्वव्यापिनी विशदता की ओर चले हैं। ऐसे ही स्थानों पर रहस्यात्मक विम्ब-प्रतिविम्ब-वाद की छाया मिलती है। फ़ारसी की मसनवियों के एकान्तिक, अलौकिक, गुण-प्रधान, विशेषोन्मुख और लोकान्तर-व्यापी तथा भारतीय प्रेम-गाथाओं के लौकिक व्यवहारात्मक, सामान्योन्मुख जीवन-व्यापी प्रेम का सामञ्जस्य करके इन्होंने एक नया रूप सा खड़ा किया है। नायक और नायिका दोनों में प्रेम का समान वेग दिखलाया है। आध्यात्मिक रहस्यों और योग की क्रियाओं का भी कहीं कहीं साङ्केतिक वर्णन किया है। निर्गुण और निराकार-वाद की भी स्पष्ट झलक इनमें पाई जाती है। प्रकृति-चित्रण में भी इन्होंने भारतीय और फ़ारसी दोनों पद्धतियाँ रक्खी हैं और प्रकृति के साथ अन्तरात्मा का सम्बन्ध भावना की प्रधानता से दिखलाया है।

——

मुख्य कवि और उनकी रचनायें

क़ुतुबन शेख़—प्रेमात्मक सूफ़ी-कथाकार कवियों में क़ुतुबन शेख़ सबसे प्रथम आते हैं। ये शेरशाह के पिता हुसेनशाह के दरबारी कवि थे। इन्होंने देशी भाषा में 'मृगावती' नामक एक प्रेम-कथा संवत् १५५८ में लिखी, यह फ़ारसी की मसनवी शैली से लिखी गई है और इसमें पाँच पाँच चौपाइयों के बाद एक एक दोहे का क्रम रक्खा गया है।

ध्यान रखना चाहिए कि सभी प्रेम-कथाकारों ने इसी प्रकार रचनायें की हैं। कथा-काव्य के लिए दोहा, चौपाई की यह शैली उपयुक्त भी ठहरती है। संस्कृत के प्रबन्ध-काव्य में भी इसी प्रकार 'अनुष्टुप्' शैली का विशेष उपयोग किया गया है। आगे चलकर महात्मा तुलसीदास ने संस्कृत की ही शैली का अनुकरण करते हुए हरगीतिका आदि अन्य छन्दों की भी योजना करके इस शैली को विशेषता दे दी है।

मंझन—आपकी जीवनी का कुछ विशेष पता नहीं लगता। मृगावती के समान **'मधु-मालती'** नाम की एक प्रेम-कथा इन्होंने लिखी, जिसकी पूरी प्रति नहीं प्राप्त होती, किन्तु ज्ञात होता है कि इनमें कल्पना, वर्णन-चातुरी और प्राकृतिक चित्रण के साथ भाव-भावनाओं की अभिव्यक्ति बहुत ही सुन्दर है।

जायसी—मलिक मुहम्मद जायसी प्रेम-मार्गी सूफ़ी-कवियों में सबसे प्रधान माने जाते हैं। संवत् १५९७ के आस पास इन्होंने **'पद्मावत'** नामक एक प्रसिद्ध प्रेम-कथा-काव्य लिखा। इसमें काल्पनिकता के साथ ही साथ ऐतिहासिक तथ्य भी पाया जाता है। ये बड़े ही भावुक, प्रेमी और उदार थे, सत्सङ्गी और बहुश्रुत भी थे। इन्होंने भ्रमण भी बहुत किया था, इससे इन्हें कुछ भौगोलिक ज्ञान भी था। पद्मावत में अलौकिक प्रेम की व्यापक भावना से समन्वित एक मर्मस्पर्शिनी प्रेम-कथा है। इन्होंने **सुमनावती, मुग्धावती** और **प्रेमावती** नाम की तीन ऐसी ही और पुस्तकें

का उल्लेख किया है, किन्तु अब ये अप्राप्य हैं। इनका दूसरा ग्रंथ '**अखरावट**' है, जिसमें प्रत्येक अक्षर को लेकर मुख्य सिद्धान्त दिये गये हैं।

उसमान—ये गाज़ीपूर के शेख़हुसेन के पुत्र और हाजी बाबा के शिष्य थे। इन्होंने संवत् १६७० में '**चित्रावली**' नामी एक प्रेम-कथा लिखी। इसमें इन्होंने 'जायसी' का पूरा अनुकरण किया है। कहीं कहीं उनकी पदावली भी रख दी है, हाँ कहानी इनकी कल्पित और मौलिक है। जायसी की भाँति सात सात चौपाइयों के बाद एक-एक दोहा इन्होंने भी रक्खा है, और नगर-यात्रा एवं षट्ऋतु का वर्णन भी किया है।

शेख नबी—वास्तव में ये ही प्रेमात्मक कथाकारों के अंतिम प्रधान कवि हैं। इन्होंने संवत् १६७५ में '**ज्ञानद्वीप**' नामक एक आख्यान-काव्य लिखा, जिसमें प्रेम-कथा की परम्परा का पूरा परिपाक मिलता है।

इन प्रेम-कथा-काव्यों में स्मरणीय विशेषतायें हैं:—

१—प्रेम-कथायें प्राय: कल्पित अथवा ऐतिहासिक तथ्यांशों पर आधारित रहती हैं।

२—ये कथायें प्राय: ठेठ बोली या अवधी में ही लिखी गई हैं और इनमें दोहा, चौपाइयों का क्रम रक्खा गया है।

३—इनमें पैग़म्बर, गुरु आदि की वन्दना के रूप में मङ्गलाचरण देकर समकालीन बादशाह की भी प्रशंसा की गई है।

४—दाम्पत्य-प्रेम और माधुर्य्य-भाव के साथ ही साथ अन्योक्ति-मूलक आध्यात्मिक तथा रहस्यात्मक प्रेम की मर्मस्पर्शिनी व्यञ्जना भी इनमें पाई जाती है।

५—कबीर आदि के समान इनमें नीरस-निर्गुणवाद ही नहीं, वरन् भावना-प्रधान मधुर, मञ्जु, और मृदुल, प्रेमानुभूति की ही विशेषता है। हाँ धार्मिक पुट भी इनमें दी गई है।

६—चूँकि यह पद्धति मुसलमानों की उठाई हुई थी इसलिए हिन्दुओं ने इसका अनुसरण नहीं किया और उन्होंने अपनी भारतीय प्रेम-पद्धति का आदर्श लेकर पौराणिक या ऐतिहासिक उपाख्यान-रचना की परिपाटी चला दी।

७—चूँकि सूफ़ी फ़क़ीर काव्य-शास्त्र और छन्दः-शास्त्र से पूर्ण परिचित न थे (और इनसे पूर्ण परिचित होना इनके लिए कष्टसाध्य भी था) इसलिए इनके काव्यों में काव्य-कला का विशेष कौशल नहीं पाया जाता। यह अवश्य है कि रस-भावादि की धारा इनके काव्यों में बड़े ही स्वाभाविक और सुन्दर रूप में मिलती है, जो इनकी तल्लीनता ही प्रकट करती है न कि काव्य-शास्त्र की मर्मज्ञता। केवल ऐसे ही अर्थालङ्कार इनके काव्यों में मिलते हैं जो स्वाभाविक और उपमा-प्रपंच (उपमा, रूपक, उत्पेक्षा इत्यादि) मात्र हैं। हाँ लाक्षणिकता की ओर इन्होंने विशेष ध्यान दिया है। शब्दालङ्कारों का इनके ग्रन्थों में नितान्त अभाव सा है, क्योंकि इनमें भाषा-पाण्डित्य तो था ही नहीं। दोहे और चौपाई, जो बहुत छोटे और सरल छन्द हैं, के अतिरिक्त

और किसी भी छन्द का प्रयोग इन्होंने नहीं किया। इनमें भी छन्दः-शास्त्र के नियमों की अवहेलना की गई है।

शेख़ नबी के पश्चात् प्रेम-काव्य का यह विदेशीय पौदा भक्ति-काव्य के वायुमण्डल में न पनप सका, यद्यपि इसका नितान्त लोप न हुआ तो भी यह मृतप्राय सा हो ही गया। आगे चलकर कुछ सूफ़ी फ़क़ीरों ने इसे सींचकर बढ़ाने का प्रयत्न किया अवश्य किन्तु वे सफल न हो सके। ऐसे फ़क़ीरों में से **क़ासिम-शाह** (जिन्होंने 'हंस जवाहर' नामक प्रेम-कथा सं० १७१८ में लिखी) और **नूरमुहम्मद**—(सं० १८०१ में जिन्होंने 'इन्द्रावती' नामी कहानी लिखी) विशेष उल्लेखनीय हैं।

पौराणिक कथा-काव्य—यह काव्य हिन्दुओं के द्वारा विकसित किया गया। पौराणिक या ऐतिहासिक प्रणय-कथायें ही इसमें रक्खी गई हैं। इसमें लौकिक प्रेम की ही विशेषता है, और जीवन की सभी आवश्यक घटनाओं का समावेश भी किया गया है; धार्मिक तथा चारित्रिक आदर्शों का महत्त्व भी दिखलाया गया है। इस प्रकार के काव्यों और कवियों में से उल्लेखनीय हैं:—

दामो—इन्होंने सं० १५१६ में लक्ष्मणसेन और पद्मावती की कथा लिखी। इनकी भाषा में राजस्थानी पुट और छन्दों में कहीं कहीं दोष हैं।

पुहकर—संवत् १६७३ में इन्होंने **'रस-रतन'** नामी एक सरस और सुन्दर काव्य लिखा।

काशीराम—इन्होंने '**कनक-मंजरी**' नामक एक सुन्दर प्रेम-कथा लिखी।

हरसेवक मिश्र—ओरछा-नरेश पृथ्वीसिंह के राज-कवि थे। इन्होंने **कामरूप की कथा** लिखी।

इसी प्रकार पटियाला-नरेश के राजकवि **मृगेन्द्र** ने **प्रेमपयोनिधि** नाम से एक प्रेम-कहानी लिखी।

इनके अतिरिक्त कुछ और कवियों ने भी कुछ साधारण रचनायें की हैं।

अभ्यास

(१) मध्यकाल में किन किन भाषाओं का किस किस प्रकार और क्यों विकास हुआ है ?

(२) मध्यकाल के प्रारम्भ में संस्कृत और फ़ारसी की क्या दशा रही है और उन्होंने हिन्दी पर अपने क्या प्रभाव डाले हैं।

(३) प्रेमात्मक काव्य की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालो।

(४) पौराणिक कथा-काव्य के विषय में यहाँ क्या दिया गया है।

(५) प्रेमात्मक कथा-काव्य का प्रचार हिन्दुओं में क्यों न हुआ, सतर्क लिखो।

दार्शनिक काव्य

मध्य-काल के लगभग प्रारम्भ ही से उस काव्य की परम्परा भी प्रारम्भ होती है जिसे हम दार्शनिक ज्ञानाभासात्मक या आध्यात्मिक काव्य कह सकते हैं। षट् दर्शनों के प्रभाव से भारतीय वायु-मण्डल तर्कात्मक अध्यात्म-ज्ञान से पूर्णतया परिपूरित था और वह कवियों में भी पहुँच कर उनके काव्यों पर अपना रङ्ग चढ़ा रहा था। इसलिए दार्शनिक काव्य की उत्पत्ति अवश्यम्भावी हुई किन्तु इसकी तीन मुख्य धारायें हो गईं। शुद्ध तर्कात्मक-वेदान्त-वाद चूँकि जनता के लिए अत्यन्त दुर्बोध सा था इसलिए कवियों ने उसमें उस हृदय-तत्त्व को और सन्निहित कर दिया जिससे साधारण जनता बहुत प्रभावित रहती है और इस प्रकार प्रेमात्मक निर्गुणोपासना-सम्बन्धी उक्त (१) सूफी-काव्य का विकास हुआ, उसके कथा-तत्त्व को अलग करके मुक्तक के रूप में भावों को ही प्राधान्य देते हुए (२) ज्ञानाभासात्मक काव्य की एक दूसरी धारा भी चली। इस धारा में प्रेम और शृङ्गार का उतना सामञ्जस्य न था, इसलिए यह कुछ नीरस सी थी और जनता में विशेष प्रचलित न हो सकी। इस धारा में साम्प्रदायिक बातों का भी पूरा प्रतिबिम्ब था, और सामाजिक सुधार की भी कुछ पुट लगी हुई

थी। तीसरी धारा भक्ति और प्रेम को प्रधानता देती हुई जनता के लिए योग और ज्ञान जैसे दुर्बोध तत्त्वों को दुर्गम समझ तथा निराकारोपासना की नीरसता को देखते हुए सगुण और साकार उपासना के साथ (३) **भक्ति-काव्य** के रूप में चली।

इन तीनों के अतिरिक्त एक और विशेष धारा ऐसे काव्य की चली जिसमें चारित्रिक नियमों, नीति के विधानों और व्यावहारिक बातों से सम्बन्ध रखनेवाले उपदेशों की प्रधानता थी। जनता को सच्चरित्र, सदाचारी और सुकर्मी बनाना ही इसका लक्ष्य था। इस धारा को हम (४) **नीत्यात्मक** (Moral or didactic) **काव्य** कहते हैं। यह काव्य विशेषतया मुक्तक या कुलक के ही रूप में रहा। इसके साथ ही हम एक (५) **मिश्रित धारा** भी पाते हैं, जिसमें उक्त सभी धाराओं के सलिल-सीकर सन्निहित रहते हैं। इन सबमें से, कहना न होगा, भक्ति-काव्य की ही धारा परम प्रबल और देशव्यापिनी ठहरी। अब हम इनका यथाक्रम वर्णन करेंगे।

(१) **ज्ञानाभासात्मक-काव्य**—यद्यपि इस काव्य का प्रकाश लगभग ११९२ सं० में महाराष्ट्र देश के महात्मा **नामदेव** के द्वारा हो चुका था किन्तु उसमें सगुणोपासना की भी पर्य्याप्त मात्रा थी। अस्तु, इस काव्य के प्रधान प्रवर्तक हिन्दी-क्षेत्र में **कबीरदास** ही माने जाते हैं।

कबीरदास—**कबीरदास** का जन्म सं० १४५६ में और मृत्यु १५७५ में मानी जाती है। इनकी जाति के विषय में मत-

भेद है। कहते हैं कि यह उत्पन्न तो ब्राह्मण-वंश में हुए थे किन्तु इनका पालन-पोषण नीमा और नीरू नामक एक जुलाहा-दम्पति ने किया था। अस्तु इसी लिए इनमें संस्कार-प्रभाव से हिन्दुत्व और सम्पर्क-प्रभाव से यवनत्व था। ये पढ़े-लिखे तो कुछ भी न थे किन्तु सत्सङ्ग और परिभ्रमण के कारण बहुश्रुत होकर बहुज्ञ थे। प्रथम तो ये गुरुहीन ही रहे, जब लोग इन्हें निगुरा कहने लगे तब इन्होंने अपने को **स्वामी रामानन्द** का, जो रामोपासना के प्रमुख प्रचारक थे, शिष्य बना लिया।

इन्होंने हिन्दू और यवन दोनों मतों के धार्मिक तत्त्वों को एकत्रित करके **कबीर-पंथ** के नाम से एक नया पंथ चलाया जिसका प्रचार निम्न श्रेणी के लोगों में ही हुआ। उच्च श्रेणी को प्रभावित करने के लिए इनके पंथ में पर्य्याप्त प्रबलता ही न थी। पंथ-प्रचारक होकर इन्होंने उक्त दोनों समाजों का आलोचन एवं खण्डन भी तीव्र शब्दों में किया है और निर्गुणोपासना को ही प्रधानता दी है।

पठन-पाठन की शून्यता के कारण इनका काव्य सदोष, इनकी भाषा अपरि-मार्जित, अशुद्ध तथा अशिष्ट और रचना-शैली ग्रामीण और अव्यवस्थित है। एकेश्वरवाद, निर्गुणोपासना तथा योगादि की सुनी-सुनाई प्रमुख बातें इनकी रचना में पाई जाती हैं। कहीं कहीं प्रेम और माधुर्य्य-भक्ति के साथ रहस्यात्मक विचारों की भी सुन्दर व्यञ्जना अवश्य मिलती है। रूपक, अन्योक्ति, दृष्टान्तोत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों की साधारण चारुता भी उक्ति-वैचित्र्य के साथ कहीं कहीं झलकती है। दृष्ट-कूट की दुर्बोध तथा विरोधात्मक पदावली

से भी कहीं कहीं इन्होंने अच्छा कौतुक किया है और बनारसी, खड़ी बोली, उर्दू, बिहारी आदि कई बोलियों की खिचड़ी भाषा का ठाठ बनाया है। इनका मुख्य ग्रन्थ बीजक है, जिसमें, रमैनी, शब्द और साखी हैं। इसके अतिरिक्त 'हिंडोल', झूलना आदि छोटी मोटी बहुत सी पुस्तकें हैं, जो साहित्यिक दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

कबीर एक अच्छे सन्त और समाज-सुधारक थे। कवियों में इनका स्थान हम केवल इसलिए ऊँचा नहीं मानते, चूँकि इनकी रचना में भाव-व्यञ्जना है, क्योंकि काव्य के अन्य गुणों की शून्यता, भाषा और शैली की शिथिलता भाव-व्यञ्जना के होते हुए भी न तो किसी रचना को काव्य ही बना सकती है और न ऐसी रचना के विधाता को सत्कवि ही कर सकती है।

कबीर की शिष्य-परम्परा बहुत दूर तक चली और अब भी चलती जाती है, किन्तु इनके बाद इनकी जैसी भी रचना कोई दूसरा सन्त न कर सका। इनके पश्चात् पंथों में व्यक्तित्व के महत्त्व का ही प्राधान्य हो चला और चरणदासी, मलूकदासी आदि कितने ही पंथ कई सन्तों के नामों से चल पड़े। चूँकि इन सबमें ज्ञान की नितान्त न्यूनता थी इसी लिए इनका प्रभाव सुपठित और उच्च श्रेणी की जनता पर कदापि कुछ न पड़ा। हाँ, इनसे यह लाभ अवश्य हुआ कि साधारण जनता धार्मिक सूत्र में बँधी रही और बहक न सकी। हिन्दी-भाषा और हिन्दी-काव्य की ओर उसकी कुछ अभिरुचि भी बढ़ गई जिससे दोनों का अच्छा हित हुआ।

किन्तु, मत-पार्थक्य से अनैक्य, अन्ध-विश्वास आदि के दुर्गुण भी देश में फैल चले। भिन्न भिन्न प्रान्तीय भाषाओं के प्रावल्य ने, जो इनकी रचनाओं में विशेष पाया जाता है, साहित्यिक भाषा को व्यापक और स्थिर होने में बहुत बड़ा धक्का पहुँचाया। धन्य हैं कृष्ण-भक्त, जिनके प्रभाव से व्रजभाषा अत्यन्त गौरव के साथ देश में एक सर्वमान्य काव्य-भाषा हो सकी।

अन्य सन्त कवि—कबीर के पश्चात् यद्यपि बहुत से सन्त हुए हैं तथापि उनमें से केवल कुछ ही ऐसे हैं जो यहाँ उल्लेखनीय ठहरते हैं। यद्यपि इन लोगों की रचनायें भी कोई विशेष साहित्यिक मूल्य नहीं रखतीं। प्रायः सभी ने कबीर का अनुकरण किया है, हाँ, अपने व्यक्तित्व को प्रधानता देने के लिए कहीं कहीं कुछ हेर-फेर भी अवश्य किया है। इनकी रचनायें अव्यवस्थित और नीरस हैं, उनमें किसी भी प्रकार का विशेष सौन्दर्य्य नहीं, इसी लिए वे साधारण जनता से भी रक्षित न की जा सकीं। पण्डित-मंडली में तो प्रवेश पाना उनके लिए असम्भव ही था।

नानक—उल्लेखनीय सन्तों में गुरु नानक का स्थान बहुत ऊँचा है। ये महात्मा सिक्ख-धर्म के प्रवर्तक और प्रमुख नेता थे। कबीर के समान ये भी बहुत पढ़े-लिखे न थे, किन्तु प्रतिभा-वान् बहुत थे। इनके भजनों का संग्रह **'ग्रन्थ-साहब'** नामी सिक्खों के पूज्य ग्रंथ में सं० १६०१ में किया गया है।

आपने सीधी-सादी और पंजाबी से प्रभावित व्रजभाषा में भी कुछ भजन लिखे हैं।

दादूदयाल—इनका जन्म सं० १६०१ में माना गया है। इनके जीवन की अन्य बातें विवाद-ग्रस्त हैं। १६६० सं० में इनका शरीरान्त हुआ। इन्होंने **दादू-पंथ** चलाया, जिसमें निरंजन और निराकार की उपासना सत्य राम के ध्यान के साथ होती है। इनकी बानी में कबीर की साखियों के कुछ पद भी मिलते हैं। इनकी भाषा राजस्थानी से प्रभावित ऐसी पश्चिमीय हिन्दी है, जिसमें अरबी और फ़ारसी के भी शब्द पाये जाते हैं। क्रियाओं के रूप प्राय: खड़ी बोली के ही से हैं। इनकी रचना कबीर की अपेक्षा अधिक सरस और गम्भीर है। सतगुरु-महिमा, आत्म-बोध आदि विषय इनके भी प्राय: वही हैं।

सुन्दरदास—सं० १६५३ में इनका जन्म जयपुर राज्य के द्यौसा ग्राम में हुआ। ये बाबा दादूदयाल के शिष्य थे। इन्होंने संस्कृत, व्याकरण और पुराणादि पढ़े और फ़ारसी भी सीखी। शरीर और मन दोनों आपके सौम्य थे। स्वभाव इनका सरल और कोमल था। सन्तों में यही एक सुपठित और काव्य-कला के ज्ञाता कवि हुए हैं। इसी से इनका काव्य औरों की अपेक्षा अधिक सरस, सुन्दर और शिष्ट है। इनकी व्रजभाषा शुद्ध साहित्यिक रूप में है। इनके रचे हुए कई ग्रंथों में से **सुन्दरविलास** नामी ग्रंथ में कवित्त और सवैया आदि छन्द, यमक, अनुप्रास एवं अन्य अर्थालङ्कार अच्छे रूप में मिलते हैं। काव्य इनका अच्छा है। सं० १७४६ में इनका देहान्त हुआ।

बाबा मलूकदास—इनका जन्म सं० १६३१ में हुआ। ये बड़े प्रसिद्ध और सिद्ध महात्मा थे। **रत्नखान** और **ज्ञान-बोध** नामी दो पुस्तकें इनकी विख्यात हैं। अरबी और फ़ारसी के शब्दों से मिश्रित बोलचाल की साधारण हिन्दी या खड़ी बोली में ही इन्होंने रचना की है। कहीं कहीं पर इनका पद-विन्यास अच्छा है। सं० १७३९ में इनका देहान्त हुआ।

अक्षरअनन्य—ये राना पृथ्वीचन्द्र के दीवान और महाराज छत्रसाल के शिष्य थे। आपने छोटी छोटी कई पुस्तकें लिखीं। रचना इनकी साधारण श्रेणी की ही है।

इनके अतिरिक्त यद्यपि और भी बहुत से कवि हुए हैं, परन्तु वे यहाँ उल्लेखनीय नहीं। सन्त-काव्य में निम्नाङ्कित **विशेषतायें** स्मरणीय हैं।

१—सन्त-काव्य में ज्ञान की साधारण बातें, सद्गुरु-महिमा, मूर्ति-पूजा, मूर्ति-खंडन, अवतार, एवं कर्म-काण्ड का विरोध, जाति-पाँति का एकीकरण और निर्गुणोपासनादिक विषय समान रूप से पाये जाते हैं।

२—भाषा प्रायः प्रान्तीयता से भरी हुई अशुद्ध, अव्यवस्थित और जड़ (Rough) है।

३—शब्द, रमैनी, बानी और साखी जैसे छन्दों की प्रचुरता है। साहित्यिक तत्त्व बहुत ही कम है। उपदेशों में कहीं कहीं उक्तियाँ अच्छी आ गई हैं।

४—अन्य मतों का खण्डन तथा रहस्यवाद की कुछ झलक भी, जो प्राय: माधुर्य्य भक्ति पर आधारित है, कुछ प्रेम-तत्त्व के साथ मिलती है।

सन्तों में रहस्यवाद—सन्तों में संसार से परे जो एक अदृष्ट सत्ता है उसके प्रति प्रेममयी भक्ति थी, हाँ, उसमें अवतार के रूप से कोई व्यक्त आलम्बन न था, और होता भी कैसे जब वह सत्ता निर्गुण और निराकार है। इसी लिए उसे व्यक्त करने में इनकी वाणी रहस्यमयी हो गई है। ये उसकी चिन्तना करते हुए जब अगोचरता की ओर चलते हैं और अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा से बढ़ते हुए उसका अनुभव करते हैं तभी मानों ये रहस्यवाद में आते हैं। रहस्य के अर्थ हैं—एकान्त और अज्ञेय—ऐसी अज्ञेय सत्ता के व्यक्त करने में जो कुछ भी कथन किया जायगा वह अवश्य ही रहस्यमय होगा। हमारे वेदोपनिषदों में भी रहस्यवाद भरा पड़ा है। ये सन्त इसी को सुन सुनाकर प्रकृति के नाना रूपों में उस रहस्यात्मक सत्ता को देखते हुए भावमग्न होकर कल्पना के साथ चलने लगते हैं। प्रकृति को कहीं कहीं इन्होंने उस परमपुरुष की पत्नी के रूप में भी माना है और दोनों को माधुर्य्य-भाव से अपनाया है। कहीं कहीं भक्ति के शान्त, दास्य, सख्य और माधुर्य्य आदि भावों के तत्त्व भी इनकी रचनाओं में देखे जाते हैं। ये प्राय: लौकिकता से अलौकिकता की ओर चलते हैं। इनका प्रेम शुद्ध और दिव्य रूप में रहता है।

अभ्यास

(१) धार्मिक काव्य के कितने मुख्य रूप यहाँ दिखलाये गये हैं।

(२) सूफी-फ़क़ीरों और सन्त-कवियों में कहाँ तक समता है, दोनों की तुलना करते हुए सतर्क लिखो।

(३) सन्त-कवियों के रहस्यवाद का क्या रूप है, संक्षेप में लिखो।

(४) कबीर को कहाँ तक तुम कवि मान सकते हो और क्यों ?

(५) सन्त-कवियों के काव्य का प्रचार पंडित-समाज में क्यों नहीं हुआ, सतर्क लिखो।

(६) सन्त-काव्य की मार्मिक आलोचना करते हुए उसकी मुख्य विशेषतायें बतलाओ।

(७) सन्त-कवियों की भाषा और शैली की सूक्ष्म विवेचना करो और बताओ कि उनके काव्य का क्या प्रभाव जनता पर पड़ा।

(८) सन्त-कवियों ने समाज की कैसी आलोचना की है और अपने पंथों में किन बातों को प्रधानता दी है।

(९) सुन्दरदास की कविता के विषय में तुम क्या जानते हो ?

भक्ति-काव्य

राजनैतिक दशा

भक्ति-काव्य का रचना-कार्य पठान-साम्राज्य के अन्तिम काल से ही प्रारम्भ होता है। अपनी धार्मिक सत्ता को स्वतंत्र रखने के लिए ही हिन्दुओं ने सम्भवतः धार्म्मिक आन्दोलन प्रारम्भ किया था, सूफ़ियों के प्रेमात्मक कथा-काव्य से जनता को प्रभावित होते हुए देखकर यह आवश्यक हुआ कि जनता को अपने धर्म में आरूढ़ रखने के लिए भक्ति-काव्य का प्रचार किया जाय।

मुग़ल-साम्राज्य का प्रारम्भ १६ वीं शताब्दी से ही हुआ है। केवल कुछ ही युद्धों के पश्चात् मुग़लों ने शान्ति स्थापित करके अपने राज्य को सुदृढ़ किया और इसके लिए देश की भाषा, उसके साहित्य तथा देश की संस्कृति के संरक्षण और विकाशन के साथ पर्य्याप्त सहानुभूति और सहयोग भी दिखलाया। फलतः हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-भाषा का विकास इस समय से अच्छे रूप में हो चला। यद्यपि मुग़लों को भी कुछ युद्ध करने पड़े तथापि उनका प्रभाव देश और समाज पर विशेष न पड़ा।

अकबर के समय में मुग़ल-साम्राज्य स्थिर हो गया और अकबर ने उसे दृढ़ करने के लिए हिन्दुओं को अपने साथ ले लिया।

इसका भी प्रभाव हिन्दी-साहित्य के विकास पर अच्छा पड़ा। हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य में उसका अनुराग देखकर अन्य राजपूत राजाओं और नवाबों ने भी हिन्दी-साहित्य के प्रति उदारता का भाव दिखलाया।

मुग़लों के कला-प्रेम ने भी साहित्य में कला-काव्य के विकास-प्रकाश का प्रारम्भ कर दिया, इसके साथ ही चूँकि अब हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य का भी पर्य्याप्त रूप से विकास हो चुका था, इसलिए उसमें अब शास्त्रीय और कलात्मक कार्य्य की आवश्यकता निश्चित सी हो गई, जिससे आगे चल कर साहित्य के कला-काल का अभ्युदय अवश्यम्भावी हुआ।

धार्मिक दशा—यहाँ देश की धार्मिक दशा पर भी कुछ प्रकाश डाल देना आवश्यक प्रतीत होता है। तर्कात्मक, प्रौढ़ और दार्शनिक धर्म से जनता असन्तुष्ट या विमुख होती हुई पौराणिक धर्म की ओर विशेष संलग्न या अभिमुख हो गई थी और वेदान्तीय निराकारोपासना के स्थान पर साधारण जनता की प्रवृत्ति भक्तिपूर्ण सगुणोपासना की ही ओर विशेष झुक रही थी।

मुसलमानों के पैग़म्बर-वाद तथा एकेश्वर-वाद के समानान्तर रूप में अवतार-वाद और सन्तों के निर्गुण वाद का प्रचार हो रहा था। वाममार्ग और तांत्रिक-पंथ भी, महात्मा गोरखनाथ जैसे सिद्ध पुरुषों के द्वारा, चलाये जा रहे थे। हाँ पण्डित-मण्डली में अब तक वह दार्शनिक मत, जिसमें ज्ञान और योग का ही प्राधान्य है, अपना पूर्ण प्राबल्य रखता था।

बंगाल आदि पूर्वीय प्रान्तों में शैव और शाक्त धर्म प्रवर्तित थे। दक्षिण से आये हुए वैष्णव-धर्म का भी प्रचार प्रचुरता से बंगाल, बिहार, युक्त-प्रान्त, राजस्थान तथा गुजरात में हो रहा था। इसका श्रेय पूज्य स्वामी रामानुजाचार्य्य, माधवाचार्य्य, विष्णु-स्वामी, निम्बार्क तथा वल्लभाचार्य्य को ही है। स्वामी शङ्क-राचार्य्य के प्रभाव से बौद्ध-धर्म भारत में रह ही न गया था, हाँ जैन-धर्म कुछ कुछ मारवाड़ इत्यादि में चल रहा था। पंजाब में सिक्ख-सम्प्रदाय बड़े बलवेग से प्रचलित था। इनके अतिरिक्त निम्नश्रेणी की जनता में कबीर-पंथ तथा इसी प्रकार के कुछ अन्य पंथ भिन्न भिन्न स्थानों में प्रचलित थे।

साधारण जनता के लिए इस समय एक ऐसे विशेष धर्म की भी आवश्यकता थी, जिसका अनुसरण करना सरल और सुखद हो—जिसमें हृदयतत्त्व की ही महत्ता हो और जिसमें सुन्दर समाकर्षण, साधारणोपासना का विधान और जीवन की अनुभूति-व्यञ्जना सुन्दर रूप में हो। ऐसे ही समय में, भक्ति-धर्म का प्रचार भक्ति-काव्य के साथ किया गया, अस्तु इसमें पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई। बस हिन्दी-साहित्य सुन्दर भक्ति-काव्य से परिपूर्ण हो गया।

वैष्णव-धर्म—चूँकि हिन्दी-साहित्य का भक्ति-काव्य वैष्णव मत पर ही पूर्णरूप से आधारित है इसलिए हम उसके विषय में कुछ आवश्यक बातें का भी दे देना यहाँ समीचीन समझते हैं।

इस धर्म का जन्म कब, किसके द्वारा, और कैसे हुआ—इस विषय पर अब तक निश्चित रूप से नहीं ज्ञात हो सका। अब तक की खोज से यही ज्ञात हुआ है कि इसका प्रारम्भ ईसवी शताब्दी के ५०० या इससे भी अधिक वर्षों के पूर्व हुआ है, और वासुदेव-सम्प्रदाय (जिसमें वासुदेव की उपासना होती थी) नारायण-सम्प्रदाय (जिससे स्वामी रामानुजाचार्य्य जी प्रभावित हुए जान पड़ते हैं) तथा विष्णु-सम्प्रदाय जैसे कई सम्प्रदायों के तत्त्वों से मिलकर वैष्णव-धर्म का प्रारम्भिक रूप प्रकट हुआ और लगभग २०० वर्ष पूर्व ईसा तक यह उत्तर भारत में रहकर वृष्णि-जाति के द्वारा दक्षिण को ले जाया गया।

यह वहाँ आडवार में केन्द्रीभूत हुआ, फिर वहाँ से यह रामानुजाचार्य्य, निम्बार्क, माधवाचार्य्य और विष्णु स्वामी के द्वारा फिर उत्तर-भारत में आया। इसके दो रूप इन आचार्य्यों ने रक्खे—प्रथम तो वह है जिसमें वेदान्तीय अद्वैतवाद का विशेष रूप पाया जाता है और जिसे **विशिष्टाद्वैत** कहते हैं—यह **दार्शनिक** (Philosophical) रूप है। दूसरा रूप उपासना-सम्बन्धी है और उसमें विष्णु के अवतारों (राम और कृष्ण) की उपासना का विधान चार प्रकार की शान्त, दास्य, सख्य, और माधुर्य्य नामक भक्ति से किया गया है। यही **उपासनात्मक** (Devotional Side) रूप साधारण जनता के लिए रक्खा गया था और यही हिन्दी के भक्ति-काव्य का आधार हुआ है।

विष्णु के दो प्रधान अवतारों के आधार पर ही इसके दो प्रधान रूप हो गये हैं और इसी लिए भक्ति-काव्य भी दो रूपों में हमें प्राप्त होता है। **रामोपासना** (या राम-भक्ति) का प्रचार स्वामी रामानुजाचार्य्य के शिष्य **श्रीरामानन्द स्वामी** ने और कृष्णोपासना (या कृष्ण-भक्ति) का प्रचार श्रीवल्लभ **स्वामी** ने निम्बार्क और माधवाचार्य्य के आधार पर उत्तर-भारत में किया।

निम्बार्क, माधवाचार्य्य और विष्णुस्वामी ने इस भक्ति-धर्म का प्रचार प्रथम बंगाल में किया और श्रीमद्भागवत से इसके सम्पूर्ण तत्त्व निकालकर जनता के सम्मुख रक्खे, अस्तु भागवत ही कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-काव्य का सबसे प्रधान-ग्रन्थ है और इसी पर सारा कृष्ण-काव्य आधारित है। हरिवंशपुराण भी एक प्रधान ग्रन्थ है, किन्तु उसने बहुत थोड़ी ही सहायता दी है। ठीक इसी प्रकार **वाल्मीकीय रामायण** ही राम-भक्ति और राम-काव्य का आधारभूत मुख्य ग्रन्थ है। इसके पश्चात् अध्यात्मरामायण, हनुमन्नाटक आदि ग्रन्थ आते हैं जिन्होंने राम-काव्य और राम-भक्ति के प्रचार-प्रवर्धन में सहायता पहुँचाई है।

शाक्त-धर्म से प्रभावित होकर बंगाल में **चैतन्य स्वामी** ने कृष्णोपासना के साथ **राधिकोपासना** भी रख दी, यद्यपि भागवत में इसका कोई भी विधान नहीं है। इन्हीं के शिष्य **रूप सनातन** ने वृन्दावन में आकर **गौड़-वैष्णव-सम्प्रदाय** चलाया और राधा-भक्ति का भी प्रचार किया। फलतः वहाँ के वल्लभ-सम्प्रदाय की

श्रीकृष्ण-भक्ति में भी राधा-भक्ति पहुँच गई और **राधा-वल्लभीय** सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ, जिसके प्रभाव से आगे चलकर **सखी-सम्प्रदाय** और **हित-सम्प्रदाय** आदि विकसित हुए।

अवध और बनारस के प्रान्त कृष्ण-भक्ति से प्रभावित न हो सके, क्योंकि अवध में तो राम-भक्ति का और काशी में, जो संस्कृत विद्या का केन्द्र था, दर्शन-शास्त्रों का विशेष प्राबल्य था। इसी प्रकार सिक्ख-सम्प्रदाय की प्रबलता से पंजाब में भी कृष्ण-भक्ति का प्रवेश न हो सका और वह राजपूताना तथा मारवाड़ में होती हुई महाराष्ट्र और गुजरात में भी पहुँच गई। कृष्ण-भक्ति एवं कृष्ण-काव्य के प्रचार-प्राबल्य से व्रजभाषा भारत की एक सर्वमान्य, व्यापक और साहित्यिक काव्य-भाषा होकर बिहार, राजपूताना और महाराष्ट्र आदि दूरस्थ प्रदेशों तक में फैल गई।

भक्ति और उसके रूप—भक्ति-काव्य का विवेचन भक्ति और उसके रूपों के बिना जाने हुए सुबोध नहीं हो सकता। इसलिए हम संक्षेप से उस पर भी कुछ प्रकाश यहाँ डालते हैं। चूँकि भक्ति-धर्म साधारण जनता के लिए रक्खा गया था इसलिए लौकिकता के आधार से ही इसे उठाकर भगवान् तक ले जाना उचित था। इसी विचार से भक्ति उन पाँच भावों पर आधारित की गई है जो लौकिक सम्बन्ध के प्रेमात्मक पाँच रूप हैं। ऐसा करने से इसमें मनुष्य के सांसारिक जीवन की अवस्थाओं और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले विचारों, भावनाओं और मनोवृत्तियों का मार्मिक सामञ्जस्य हो

जाता है और फलतः हृदय-तत्त्व को उद्दीप्त करके यह साधारण जनता को रुचिकर और सौख्यप्रद होता है। अवतारवाद से इसकी लीलाओं में इस लौकिकता के साथ ही साथ दिव्य अलौकिकता का भी सुन्दर आभास रहता है।

लौकिक सम्बन्ध के मुख्यतया दो रूप होते हैं:—(१) **पारिवारिक** और (२) **सामाजिक**।

पारिवारिक में पहले पिता-पुत्र-सम्बन्ध, दूसरे दाम्पत्य-सम्बन्ध और तीसरे बन्धुबान्धव-सम्बन्ध प्रधान हैं, अस्तु भक्ति में भी जन्य-जनक या गुरु-भाव, दाम्पत्य या माधुर्य्यभाव और भ्रातृ-भाव आता है। गुरु-भाव में भक्त अपने को ईश्वर का पुत्र अथवा ईश्वर को पुत्रवत् देखता है। अस्तु भक्ति के श्रद्धात्मक और वात्सल्य दो रूप और हो जाते हैं—

सामाजिक सम्बन्धों में भी मुख्यतया तीन भाव ही रहते हैं (१) आदर-भाव—(गुरुजनों के प्रति), (२) सेव्य-सेवक-भाव या सेवक-स्वामी-भाव (यह दाम्पत्य के ही समान है, दाम्पत्य में तो प्रेम का, किन्तु इसमें श्रद्धा और भय का प्राधान्य होता है) (३)—सखा या साम्यभाव—इसलिए भक्ति भी (१) शान्त, अथवा आदर-भाव-पूर्ण (२) दास्य-भाव-पूर्ण (३) सख्य-भाव-पूर्ण हो जाती है। सख्य-भाव के समान सखी-भाव भी होता है जिसमें भक्त अपने को भगवान् की शक्तिरूपिणी प्रिया की सखी के रूप में मानता है।

इन सबमें से रामानन्दियों का दास्य-भाव, वल्लभीयों का वात्सल्य-भाव, हितजी का सखो-भाव और मीरा का माधुर्य्य-भाव विशेष प्रधान हैं।

अभ्यास

१—भक्ति-काव्य के विकास पर राजनैतिक परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ा, सतर्क लिखो।

२—मुग़ल-साम्राज्य से हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य को क्या सहायता मिली?

३—भक्ति-काल में देश की धार्मिक दशा का क्या उल्लेख यहाँ किया गया है?

४—यहाँ भक्ति के कितने रूप बताये गये हैं, उनकी सूक्ष्म व्याख्या करो।

५—भक्ति का विकास किस प्रकार, किसके द्वारा, और कहाँ से हुआ?

६—भक्ति-धर्म से जनता क्यों विशेष प्रभावित हुई और भक्ति-काव्य से व्रजभाषा को क्या लाभ हुआ?

७—किन संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति आधारित की गई है। चैतन्य स्वामी ने कृष्ण-भक्ति में क्या विशेषता पैदा की और क्यों?

——

राम-काव्य

रामोपासना का प्रबल प्रचार स्वामी रामानुजाचार्य्य के समय से प्रारम्भ होता है। स्वामीजी ने अपने मत के दो रूप रक्खे हैं—

(१) साधारण—जिसमें रामोपासना का प्राधान्य है तथा (२) विशिष्ट या दार्शनिक (जिसे विशिष्टाद्वैत भी कहते हैं)—जिसमें वेदान्तीय अद्वैत-वाद का परिष्कृत रूप मिलता है।

विचार-धारा—स्वामीजी ने ब्रह्म की अद्वैतता मानते हुए उसके चित् और अचित् (जीव तथा जगत्) दो रूप दिखलाये हैं और इन्हीं के आंशिक सकाश से प्रकृति और आत्मादि का विकाश-प्रकाश मानते हुए सबको अन्त में उसी ब्रह्म में विलीन होता हुआ दिखलाया है।

ईश्वर के नाना रूपों की कल्पना करते हुए उन्होंने उन सबमें से नारायण या विष्णु को ही प्रधानता देकर उसी के सामीप्य या सायुज्य के लिए भक्ति-साधन के द्वारा पुरुषार्थ करना जीवन का मुख्य उद्देश्य कहा है। ईश्वर को सगुण और साकार मानकर अवतारवाद को भी आपने प्रतिपादित किया है। बौद्धों, जैनों तथा मुसलमानों के अवतार-वाद से जनता को प्रभावित होता हुआ देखकर ही आपने ईश्वरावतार 'राम' की उपासना चलाई।

आत्मा के दो मुख्य रूपों या दशाओं को (अप्रबुद्ध और मुक्त या संसार से परे) लेकर एक से तो मानव-संसार की और दूसरे शुद्ध और नित्य-स्वरूप से ब्रह्म और शिव की सत्ता और महत्ता दिखलाई है। आपकी उपासना-पद्धति का प्रबल-प्रचार आपकी शिष्य-परम्परा में **स्वामी रामानन्दजी** ने (जो कान्यकुब्ज-कुल-भूषण, प्रयागवासी श्रीपुष्पसदनजी के सुपुत्र थे) किया और रामावतार की उपासना चलाई। दार्शनिक तत्त्व तो इन्होंने वही रक्खा, हाँ, उपासना-तत्त्व में लोक-लीला-प्रधान आदर्श-अवतार-वाद को अधिक महत्त्व दिया। भक्तों से देश, जाति और वर्ण आदि का भेद दूर करके सबको समानरूप से राम-नाम-मंत्र के द्वारा पवित्रीकृत किया। आप ही की उपासना-पद्धति को लेकर हिन्दी-काव्याकाश के कलाधर श्रीतुलसीदास ने रामचरितमानस जैसे सुन्दर काव्य की रचना की है।

राम-काव्य—हम कह चुके हैं कि राम-काव्य का मूल और सबसे प्रधान ग्रंथ **महर्षि वाल्मीकि**कृत रामायण है, इसमें राम को मर्य्यादापुरुषोत्तम मानकर वीराग्रगण्य के रूप में उपास्य अथवा पूज्य दिखलाया गया है। स्वामी रामानुजाचार्य्य ने इसी पर अपनी टीका करके राम को ईश्वरावतार प्रतिपादित किया है और स्वामी रामानन्द ने इसी रूप में उनकी उपासना कराई है।

रामायण के अतिरिक्त संस्कृत-भाषा में राम-काव्य के मुख्य ग्रन्थ हैं :—अध्यात्मरामायण, हनुमन्नाटक, रघुवंश महा-काव्य, भट्टिकाव्य और राघवपाण्डवीय आदि। इनमें से

अध्यात्मरामायण विशेष प्रचलित और प्रधान है और इसी के आधार पर तुलसीकृत रामचरितमानस की रचना हुई है।

स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा में महात्मा **तुलसीदास** ने हिन्दी में राम-काव्य का उदय और विकाश किया। उनके पश्चात् **आचार्य्यप्रवर केशवदास** हुए, जिनके अनन्तर राम-काव्य कुछ दब सा गया और कृष्ण-काव्य के सम्मुख अपनी विशेष महत्ता और सत्ता न रख सका।

महात्मा तुलसीदास—तुलसीदासजी का जीवन निश्चित रूप से निर्धारित नहीं हो सका। बाबा बेनीमाधवकृत 'गोसाँई-चरित' इनके जीवन पर एक दूसरे ही ढंग से प्रकाश डालता है। इनकी दूसरी जीवनी बाबा रघुवरदास-कृत 'तुलसी-चरित' में है। दोनों में अन्तर है। साधारण रूप से तुलसीदासजी का जन्म सं० १५८९ में बाँदा प्रान्त के राजापुर ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का हुलसी था। इनका विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ, उसी के उपदेश से इन्होंने वैराग्य ले बाबा नरहरिदास से दीक्षा ली और रामानन्दीय सम्प्रदाय में तुलसीदास के नाम से विख्यात हुए। काशी, चित्रकूट आदि अनेक तीर्थ-स्थानों में यात्रा करते हुए सं० १६३१ में इन्होंने अयोध्या में आकर रामचरित-मानस का लिखना प्रारम्भ किया और उसे दो वर्ष ७ मास में समाप्त कर दिया। सं० १६१६ में आपसे मिलने के लिए महात्मा सूरदासजी चित्रकूट आये और उन्हीं से प्रभावित होकर इन्होंने **कृष्णगीतावली** और

विनय-पत्रिका आदि गीत-काव्य के ग्रंथ पद-शैली से लिखे। रहीम, राजा मानसिंह, बाबा नाभादास और मीराबाई आदि से आपका अच्छा परिचय था। कविवर नन्ददास को कुछ लोग तो इनका सगा भाई और कुछ गुरु-भाई बताते हैं।

काव्यालोचन—(भाषा)—राम-काव्य के लिए राम-स्थान अवध की अवधी भाषा को ही उपयुक्त समझ कर इन्होंने उसे परिष्कृत और संस्कृत करके उठाया और उसे साहित्यिक सत्काव्य-भाषा में रूपान्तरित कर दिया। इनके पहले जायसी और सूफ़ी फ़क़ीरों ने भी बोलचाल की ठेठ अवधी में ही दोहा-चौपाई की शैली से कथा-काव्य रचा था, किन्तु वे अवधी को साहित्यिक भाषा न बना सके थे। तुलसीदासजी की भाषा में संस्कृत और फ़ारसी के भी पद मिलते हैं और कहीं कहीं उस पर बोलचाल की भाषा का भी प्रभाव है, फिर भी भाषा प्रौढ़, स्वाभाविक, सरल, सुबोध और स्निग्ध है। अलङ्कृत होती हुई भी वह स्पष्ट और कृत्रिमता-रहित है।

रचना-शैली—इनके समय में हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में पाँच मुख्य रचना-शैलियाँ प्रचलित थीं:—

१—**जय-काव्य-शैली**—जिसमें छप्पय, त्रोटक आदि वीर-रसोपयुक्त छन्दों तथा प्राकृत और अपभ्रंश-मिश्रित प्राचीन काव्य-भाषा का प्राधान्य था।

२—विद्यापति और सूरदास की **गीतात्मक-शैली**—जो महाकवि जयदेव के अनुकरण में चली थी और व्रजभाषा को प्रधानता देती थी।

३—कवित्त-सवैयात्मक **मुक्तक-काव्य-शैली**—जिसका प्रचार कवि गंग आदि दरबारी कवियों ने विशेष किया।

४—दोहा-चौपाईवाली **कथा-काव्य-शैली**—जिसका प्रचार सूफ़ी-कवियों ने विशेष किया। यह शैली अवधी भाषा को ही प्रधानता देती है।

५—**सन्त-शैली**—साखी, शब्द और रमैनी आदिवाली कबीर जैसे सन्तों की ग्रामीण शैली—यह ग्रामीण और मिश्रित-भाषा को ही प्रधानता देती है।

अब यदि गोसाईंजी के ग्रन्थों को देखा जाय तो उनमें प्रथम चार शैलियाँ तो अपने सुन्दर रूपों में मिलती हैं, पाँचवीं को उन्होंने साहित्योचित न समझ कर नहीं अपनाया। इससे ज्ञात होता है कि तुलसीदासजी विलक्षण प्रतिभा और पाण्डित्य के महात्मा थे।

काव्य-कौशल—इन्होंने प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक, गीता-काव्य और नीति-काव्य, उस समय के प्रायः सभी प्रचलित काव्यों की रचना की है। यद्यपि इनके समय में कला-काल का उदय भी न हुआ था फिर भी इनकी बरवै रामायण आदि में इसको पूरी छाप मौजूद है। दोहा की सतसई-शैली का इन्हीं ने विशेष प्रचार किया, जिसे देखकर रहीम और वृन्द आदि ने भी उसी शैली में नीति-काव्य लिखा। सत्काव्य के जितने भी वर्ण्य विषय

हैं, सबका इन्होंने सफलता के साथ निर्वाह किया है। अलंकार, रस, ध्वनि, उक्ति-वैचित्र्य, चरित्र-चित्रण आदि सभी काव्याङ्ग इनके काव्य में पूर्ण कौशल और चमत्कृत चातुर्य्य के साथ पाये जाते हैं। जीवन की सभी अवस्थाओं, धार्मिक, पारिवारिक और नैतिक आदि सभी दशाओं, अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्, भक्ति, ज्ञान, प्रेम और वैराग्य आदि का अच्छा चित्रण इन्होंने किया है।

धार्मिकता—वेद-विहित, स्मृत्यनुमोदित धर्म तथा लोक-मर्य्यादा का यथोचित निरूपण इन्होंने किया है। साथ ही शैव और वैष्णव देनों मतों का सुन्दर सामञ्जस्य भी दिखलाया है। नाम और रूप (निर्गुण और सगुण-वाद) मय ब्रह्म के दोनों पक्षों के साथ अध्यात्म और भक्तिवाद दोनों का बड़े कौशल से सम्मेलन कराया है। भक्ति-पक्ष में तो जाति-भेद न रखकर औदार्य्य दिखलाया है किन्तु लोक-व्यवहार में जाति-भेद रखते हुए नीति-मर्य्यादा का पूर्ण परिपालन करना ही प्रतिपादित किया है।

काव्याङ्ग—काव्य के सभी रसों की धारायें इनकी रचन में मिलती हैं। अलङ्कारों आदि का बहुत ही सार्थक और उपयुक्त उपयोग इन्होंने बड़ी ही स्वाभाविकता और सुन्दरता से किया है और भाव-पोषक, रसोत्कर्षक तथा तथ्य-व्यञ्जक अलङ्कारों को ही प्रधानता दी है। शब्दालङ्कारों का ऐसा प्रयोग किया है कि उनमें कृत्रिमता का आभास भी नहीं है। भाषा भावों के ही अनुकूल रहकर ललित-लास्य के साथ चलती है, वाक्य-रचना, शब्द-विन्यास और वर्णन-शैली सभी शुद्ध, शिष्ट, सुव्यवस्थित और स्वच्छ हैं।

इनके ऐसे पवित्र प्रेम और शृङ्गार का वर्णन किसी भी कवि ने नहीं किया। सच पूछिए तो सत्काव्य और हिन्दुत्व की इन्होंने ही रक्षा की है, इसका कारण यही है कि तुलसीदासजी का अध्ययन बहुत विस्तृत था, इनका सत्सङ्ग भी बहुत ही श्लाघ्य था और इनकी दृष्टि तथा प्रतिभा बहुत ही पैनी, प्रौढ़ और अनुभवपूर्ण थी। भारतीय संस्कृति के ये पूर्ण ज्ञाता और एक दूरदर्शी महात्मा थे।

तुलसीदासजी के ग्रंथ—रामचरितमानस और विनय-पत्रिका तो इनके ग्रंथों में सबसे प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त कविता-वली, दोहावली, गीतावली, बरवै रामायण आदि छोटी छोटी किन्तु सुन्दर पुस्तकें हैं। कृष्णगीतावली, पार्वतीमङ्गल, जानकीमङ्गल और वैराग्यसन्दीपनी आदि भी छोटी छोटी अच्छी रचनायें हैं। इनके अतिरिक्त और भी कुछ छोटी छोटी स्फुट रचनायें हैं जो विशेष उल्लेखनीय नहीं।

भक्ति—इन्होंने दास्य-भाव की भक्ति उठाई है, और अपने को भगवान् का दास तथा उनके दासों का भी दास माना है। प्रभु-पद-सेवा ही को इन्होंने जीवन का सर्व-प्रधान उद्देश्य कहा है। राम को सर्वव्यापी मानकर सब संसार को ईश्वर-रूप कह अद्वैतवाद का मधु भी इन्होंने काव्य के कोमल कुसुम में रख दिया है। यद्यपि इन्होंने "नाना पुराण निगमागम" से सार-सिद्धान्त चुन लिये हैं तथापि प्रधानता स्मार्त-वैष्णव-धर्म एवं रामोपासना को ही दी है।

रामोपासना के साथ ही इन्होंने शिवोपासना तथा (गौरी) शक्ति की उपासना भी दिखलाई है और फिर हनुमानोपासना का भी आदेश दिया है।

अपने मानस को वाल्मीकीय रामायण पर आधारित न करके इन्होंने अध्यात्म पर ही विशेषरूप से आधारित किया है और कहीं कहीं अपनी कल्पना से भी नवीन मौलिक बातों की उद्भावना की है, किन्तु ऐसे ही कुछ स्थलों में ये कवि न रहकर भक्त विशेष ही रह गये हैं और इसी से कुछ औचित्य की सीमा से भी बाहर चले गये हैं।

उपसंहार—रामचरितमानस हिन्दी में एक अनुपम रत्न है, उसकी समता का दूसरा काव्य-ग्रंथ न तो है ही और न कदाचित् अब होवेगा भी। राम-काव्य गोसाईं जी से प्रारम्भ होकर उन्हीं में इतिश्री को भी प्राप्त होगया। इनके पश्चात् यद्यपि आचार्य केशव-दास ने भी रामचंद्रिका नामी ग्रंथ, जो अपने ढङ्ग का अप्रतिम सत्काव्य है, लिखा, किन्तु विशेष पाण्डित्य-पूर्ण होने से वह व्यापक रूप से प्रचलित न हो सका। इनके पश्चात् फिर इनसे बढ़कर लिखने का साहस किसी भी कवि को न हुआ। इन दोनों महा-कवियों ने अन्य कवियों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं, कोई लिखता तो क्या लिखता। इसी से केवल राजा रघुराजसिंह जैसे दो चार कवियों को छोड़ कर और किसी ने भी राम-काव्य के क्षेत्र में कोई स्तुत्य कार्य नहीं किया। इस क्षेत्र में प्रथम तो मानस और फिर रामचंद्रिका ये ही दो ग्रन्थ प्रचलित तथा प्रसिद्ध रहे।

गोसाईंजी के देहावसान की दो तिथियाँ हैं—

१—संवत सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यौ सरीर॥

२—सावन स्यामा तीज शनि, इसका द्वितीय पाठ है। शेष वही उक्त दोहा है। इसी को अब ठीक माना गया है।

नाभादास—इनकी जीवनी निश्चितरूप से ज्ञात नहीं। ये थे तो कृष्ण-भक्त बाबा अग्रदास के शिष्य किन्तु थे राम-भक्त ही। भेद-भाव एवं साम्प्रदायिकता को दूर रख इन्होंने "भक्तमाल" नामक एक बड़ा ग्रन्थ रचा, जिसमें २०० वैष्णव-भक्तों के सूक्ष्म जीवनवृत्त ३१६ छंदों में हैं। इसके ही अनुकरण में फिर आगे चलकर कवि-संग्रह-ग्रंथों की रचनायें हुई हैं।

इसकी पद्यबद्ध टीका प्रियादास ने लिखी है। नाभादास ब्रजभाषा के पंडित थे, इनका एक राम-काव्य-संग्रह और भी प्राप्त हुआ है; इसके सिवा दो अष्टयाम (एक ब्रजभाषा गद्य में, दूसरा दोहा चौपाई में) भी इन्होंने रचे। ये बड़े उदार, भावुक और भक्त थे।

प्राणचंद और हृदयराम—इन दोनों कवियों ने राम-काव्य पर नाटकशैली से काव्य-ग्रंथ रचे। प्रथम ने सं० १६६७ में रामायण महानाटक, जो भाषादि की दृष्टि से साधारण है, रचा तथा द्वितीय ने सं० १६८० में संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर हिन्दी में "हनुमन्नाटक" कवित्त-सवैया-शैली से वार्तालाप को

प्रधान रख लिखा। इसकी भाषा प्रौढ़ और सुन्दर है। अब तक भक्ति-काव्य में नाटक-ग्रंथ किसी भी रूप में न थे, कृष्ण-काव्य में तो नाटकों की रचना हुई ही नहीं।

इनके अतिरिक्त केशवदास और राजा रघुराजसिंह आदि राम-काव्यकारों का वर्णन हम अन्यत्र करेंगे क्योंकि यहाँ काल-क्रम के विचार से उनका वर्णन करना ठीक नहीं।

स्फुट बातें—गोसाईं जी के द्वारा हनुमद्‌भक्ति तथा तद्वि-षयक काव्य की भी एक परिपाटी चलाई गई और कुछ कवियों ने "हनुमानचरित" जैसे कुछ ग्रंथ रचे भी, किन्तु इसका प्रचार-प्रसार विशेष न हो सका, क्योंकि इनमें उतनी चारुता तथा मनोमोहकता न थी। हाँ इस प्रकार का काव्य मुक्तक-रूप में रूपान्तरित होकर कुछ चलता अवश्य रहा। इसी के साथ तीर्थ या पवित्र स्थानों की महिमा के वर्णन करने की भी एक काव्य-शैली और चली और साथ ही अन्य देव-भक्ति भी कुछ कुछ जगी जिससे अन्यदेव-भक्ति-काव्य का भी कुछ चलन हुआ, किन्तु प्रचार-प्राबल्य इनमें से किसी का भी विशेष रूप से न हुआ।

राम-काव्य से इस प्रकार गोसाईं जी के प्रभाव से कई प्रकार की रचना-शैलियाँ प्रकट होकर चलीं, किन्तु ऐसा कृष्ण-काव्य से नहीं हुआ।

अभ्यास

१—राम-भक्ति के प्रचार का सूक्ष्म वर्णन करो और दिखलाओ कि इसका क्या रूपान्तर कब, कैसे और किसके द्वारा हुआ ?

२—राम-काव्य का संस्कृत में क्या हाल है, कौन कौन से इसके प्रधान ग्रन्थ हैं ? किस ग्रन्थ से हिन्दी-राम-काव्य प्रभावित हुआ है ?

३—तुलसीदास के जीवन के विषय में क्या जानते हो ?

४—रामचरितमानस की सूक्ष्म किन्तु सतर्क मार्मिक आलोचना करो।

५—तुलसीदास ने किन किन रचना-शैलियों में रचना की है, किस नवीन शैली एवं परिपाटी का उदय किया ?

६—तुलसी की भक्ति एवं धार्मिकता पर प्रकाश डालो।

७—तुलसीदास की भाषा, वर्णन-शैली, और काव्य-चातुरी पर सूक्ष्म प्रकाश डालो।

कृष्ण-काव्य

प्राक्कथन—वेदों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में कृष्ण का नाम मिलता है, किन्तु कृष्ण से वहाँ उन ईश्वरावतार कृष्ण का तात्पर्य नहीं, जिन्हें वैष्णव कृष्ण-भक्त अपना उपास्य या सेव्य मानते हैं।

महाभारत में, यद्यपि वैष्णव कृष्ण-भक्तों के ही कृष्ण का वर्णन है किन्तु उसमें कृष्ण एक परमयोगेश्वर तथा दिव्य-शक्तिशाली नेता या नीतिज्ञ के रूप में चित्रित हुए हैं। हाँ उसके गीताध्याय में वे इस प्रकार प्रदर्शित होते हैं मानों वे ब्रह्मरूप ही हैं, उन्हीं में सब और वे ही सबमें हैं। यद्यपि वेदान्तीय अद्वैतवाद का ही यह सिद्धान्त है, तथापि गीता में कृष्णोपासना का जो संकेत पाया जाता है और ईश्वरावतार की जो सूचना दी गई है, वह कृष्ण-भक्तों की कृष्णोपासना का आधार सी जान पड़ती है। इतना होते हुए भी गीता के कृष्ण में वह बात नहीं, उनका वह रूप नहीं जिसे लेकर कृष्ण-भक्तों ने कृष्णोपासना की परिपाटी चलाई और कृष्ण-काव्य का प्रशस्त प्रासाद खड़ा किया है।

श्रीमद्भागवत ही वह ग्रंथ-रत्न या सत्काव्यमणि है जिसमें कृष्ण-भक्तों के वास्तविक उपास्य कृष्ण प्राप्त होते हैं। इसी में भक्तों

के सेव्य बाल-कृष्ण एवं प्रेमी कृष्ण, ईश्वरावतार होते हुए, चित्रित किये गये हैं। यही वह ग्रंथ है जिस पर समस्त कृष्ण-काव्य समवलंबित है। इसी के समय से कृष्णोपासना तथा कृष्ण-काव्य का वास्तव में विकाश-प्रकाश हुआ है।

इसी के साथ **"हरिवंश-पुराण"** भी आता है, इसमें श्रीकृष्णजी की विस्तृत जीवनी वर्णित है। इन्हीं दोनों में आध्यात्मिक तत्त्व का भी पूरा समावेश है।

जिस प्रकार वाल्मीकीय रामायण को लेकर स्वामी रामानुज तथा उनके शिष्यवर स्वामी रामानन्दजी ने रामोपासना का प्रचार किया उसी प्रकार **श्रीनिम्बार्क** तथा **विष्णु स्वामी** (माधवाचार्य भी कुछ अंशों में) ने भागवत को लेकर दक्षिण से चल उत्तरीय भारत में बंगाल-बिहार से प्रारम्भ कर (क्योंकि वहीं शंकर स्वामी के मत का, जिसके ये लोग प्रतिद्वंदी थे, विशेष प्रचार था) कृष्णोपासना का प्रचार किया।

बंगाल में **चैतन्य स्वामी** के प्रभाव से कृष्णोपासना तथा कृष्ण-काव्य का अच्छा प्रचार हुआ। इन्हीं के प्रभाव से श्रीजय-देवजी ने संस्कृत में अपना गीत-काव्य-शिरोमणि **गीतगोविन्द** नामक काव्य-ग्रंथ-रत्न रचा, जिसके ही प्रभाव से काव्य में संगीत का भी समावेश हो चला और कृष्ण-काव्य में गीत-काव्य की रचना-शैली का प्रचार-प्राधान्य हो गया। इन्हीं से प्रभावित होकर सूरदास आदि भक्त कवि तथा मीरा आदि ने पद-शैली (गीतकाव्यवाली) में कृष्ण-काव्य लिखा है, और कृष्ण को प्रेमी नायक के रूप में

शृंगार-मूर्ति सा चित्रित किया है। माधुर्य भाव की भक्ति का स्रोत यहीं से चल कर सर्वत्र प्रवाहित हुआ है। हाँ इसमें वात्सल्य-भाव की भक्ति का रूप नहीं है। वह वल्लभ-सम्प्रदाय की ही विशेषता है।

बंगाल-बिहार में आकर कृष्णोपासना एवं कृष्ण-काव्य में **राधोपासना** तथा **राधा-काव्य** का भी समावेश हो गया। सम्भवतः यह शाक्तों की शक्ति-उपासना का ही प्रभाव है।

श्रीनिम्बार्क स्वामी तथा **श्रीवल्लभाचार्य** (श्रीविष्णु स्वामी के अनुयायी) ने व्रजप्रान्त को श्रीकृष्ण का लीलाधाम जानकर उसे अपना केन्द्र बनाया और इसी लिए व्रज में ही कृष्ण-काव्य का भी केन्द्र बन गया। ऐसा होने से स्वभावतः वहाँ की व्रज-भाषा, जो साहित्यिक रूप में न्यूनाधिक रूप से बहुत समय पूर्व से ही प्रचलित थी, विकसित होकर सर्वमान्य एक निश्चित व्यापक काव्य-भाषा हो गई। उक्त दोनों महात्माओं के अतिरिक्त **श्रीरूप-सनातन** (श्रीचैतन्यजी के शिष्य) भी वृन्दावन में आकर बस गये और **गौड़ वैष्णव** (राधाकृष्णोपासक भक्त) **सम्प्रदाय** उन्होंने चलाया। अस्तु व्रज से ही कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-काव्य चलकर मारवाड़ (राजपूताना, गुजरात) महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में फैला। राम-भक्ति के कारण तो अवध में तथा सिक्ख-मत के प्राबल्य से पंजाब में इसका प्रचार न हो सका।

जिस प्रकार कृष्ण-भक्ति का प्रचार प्रथम बंगाल एवं बिहार से होता हुआ व्रज की ओर आया है उसी प्रकार कृष्ण-काव्य की

रचना-परम्परा का भी उदय प्रथम बिहार से ही हुआ है और फिर क्रमशः उसका विकाश-प्रकाश ब्रज आदि में हुआ है।

विद्यापति—महाकवि विद्यापति ही को हिन्दी-कृष्ण-काव्य के प्रथम सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। ये ही इसके प्रथम प्रवर्तक माने जाते हैं। इन्होंने "गीतगोविन्द" का अनुकरण सा करते हुए पद-शैली से साधारण बोलचाल की भाषा में पर्याप्त काव्य-कौशल के साथ कृष्ण के प्रेमी नायकवाले रूप को लेकर सुन्दर गीतकाव्य की रचना की है। ये संस्कृत के पूर्ण पण्डित थे इसी से इनकी रचना सत्काव्य की कोटि में आती है।

प्रभाव—विद्यापति की रचना से निम्नांकित मुख्य संकेत हिन्दी के कृष्ण-काव्यकारों को मिले हैं:—

१—प्रचार-प्राचुर्य के लिए कृष्ण-काव्य की रचना साधारण और सरल भाषा में होनी चाहिए।

२—गीतकाव्य की पद-शैली को ही रचना में प्रधानता देनी चाहिए, क्योंकि इससे काव्य में संगीत-माधुरी भी, जो अति समाकर्षक होती है, आ जाती है, जिससे काव्य अधिक रोचक और प्रभावपूर्ण हो जाता है। साथ ही वह व्यापक भी होकर सबकी रसनाओं में रम जाता है।

३—उसमें काव्य-कौशल एवं रचना-चातुर्य भी चमत्कार के साथ होना चाहिए, ताकि पठित जनता पर भी उसका पूरा प्रभाव पड़ सके।

४—कृष्ण के प्रेमी नायकवाले रूप को ही विशेषरूप से चित्रित करना चाहिए, क्योंकि यही रूप अधिक रोचक और लोक-प्रिय है। शृंगार-रस ही विशेष मनोरञ्जक, आकर्षक और व्यापक होकर रस-राज माना गया है।

५—कृष्ण-लीला के वर्णन में लोक-पक्ष ही को विशेष प्रधानता देना ठीक है, तभी यह काव्य लोक-प्रिय और व्यापक होगा।

६—कृष्ण-काव्य की रचना मुक्तक के ही रूप में अधिक उपयुक्त और उपादेय होगी, जीवन की केवल मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं और घटनाओं की ही भावनाओं को प्रधानता देते हुए चित्रित करना उत्तम है। इससे काव्य में रसवत्ता और चित्रोपमता के चित्ताकर्षक गुण आ जावेंगे।

इन सब बातों का अच्छा प्रभाव हिन्दी के कृष्ण-काव्यकारों पर पड़ा, जिससे हिन्दी का कृष्ण-काव्य परम प्रभाव-पूर्ण होकर विस्तृत रूप से व्यापक और स्थायी हो गया।

व्रजभाषा-विकाश—चूँकि व्रजभाषा ही हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में सर्वमान्य काव्य-भाषा होकर व्यापक रूप से प्रचलित हुई है, अतः इसके विकास पर भी कुछ प्रकाश छोड़ देना उचित तथा उपादेय प्रतीत होता है।

सूक्ष्मरूप से यहाँ यही कहना पर्याप्त है कि शौरसेन प्रान्त (व्रज आदि) में समय, समाज और परिस्थितियों के प्रभाव से विकसित या रूपान्तरित होती हुई आदिम प्राकृत की जो बोली प्राकृत और अपभ्रंश काल में प्रचलित थी, वही कृष्ण-भक्ति के

आन्दोलन-काल में विद्वान् महात्माओं तथा कृष्ण-काव्यकार कवियों के द्वारा परिष्कृत, परिमार्जित और प्रौढ़ की जाकर साहित्यिक रूप के साथ व्रजभाषा के नाम से प्रचलित हो गई। चूँकि यह व्रज प्रान्त की बोली से विकसित हुई थी इसलिए इसे व्रजभाषा की संज्ञा दी गई। यह भाषा-विज्ञान का एक मुख्य सिद्धान्त है कि साहित्यिक भाषा का विकास जनसाधारण के बोलचाल की बोली से होता है, वह उसी का संस्कृत तथा परिमार्जित रूप है। किसी आन्दोलन का .जनता में प्रचार करने के लिए उस आन्दोलन के जन्मदाता विद्वान् महापुरुष जनता की व्यावहारिक बोली को ही उठाते हैं, किन्तु उनके हाथों में पड़कर वह बोली अपने स्वाभाविक रूप में न रह कर परिष्कृत होती हुई साहित्यिक भाषा के रूप में परिणत हो जाती है। बस इसी प्रकार साहित्यिक भाषा का विकाश हुआ करता है। फिर उसका परिमार्जन आदि महाकवियों, आचार्यों एवं विद्वान् साहित्यज्ञों के द्वारा किया जाता है और उसे स्थायी एवं साहित्योचित रूप दिया जाता है, जिसके लिए उसमें व्याकरणादि के आधार पर सुव्यवस्था और निश्चित एक-रूपता लाई जाती है जिससे उसे स्थैर्य मिल जाता है।

व्रजभाषा इस प्रकार समय-समाजादि के प्रभाव से परिवर्तित होकर जनता में व्यावहारिक रूप से प्रवर्तित होनेवाली आदिम प्रकृति की उस बोली से विकसित हुई है जिससे प्राकृत एवं अप-भ्रंशादि का विकाश-प्रकाश हुआ था। इसे शौरसेनी प्राकृत तथा उसके अपभ्रंश से बहुत बड़ी सहायता मिली है, प्रथम तो

यह इन्हीं के साँचों में ढाली जाकर व्यवहृत की जाती थी। इसो के एक रूप को जिसका प्रयोग राजस्थान में साहित्य-रचना के लिए किया जाता था, **पिंगल** कहा करते थे। इसके इस रूप में राजस्थानी भाषा (डिंगल) का पूरा प्रभाव रहता था।

कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-काव्य से इसे पुष्टता, परिपक्वता और व्यापकता प्राप्त हुई तथा यह परिष्कृत और परिमार्जित होकर मधुर, मृदुल और मंजुल होती हुई एक-मात्र सत्काव्य-भाषा के रूप में स्थिर हो गई।

व्रजभाषा के स्वाभाविक गुण—व्रजभाषा में कुछ स्वाभाविक गुण ऐसे हैं जिनसे आकृष्ट होकर कृष्ण-भक्त कविवरों ने इसे हृदय से अपनाया और इसे काव्य-भाषा बनाकर प्रचलित किया है। इन गुणों में से प्रमुख गुण ये हैं:—

१—व्रजभाषा के प्रवाह में स्निग्धता और सरलता है, वह धारावाहिकता से चलती है।

२—वह लचीली है, कोमल है और मसृणता लिये हुए है जिससे उसे सुविधानुसार घुमा सकते हैं, और ऐसा करने से वह हानि भी नहीं पहुँचाती।

३—उसमें क्लिष्टता और नीरसता नहीं, वरन् सरलता और सरसता है, जिससे वह परमप्रिय लगती है।

४—उसमें मधुरता और मंजुलता है, साथ ही उसमें मनोगत भावनाओं और भावों को प्रकाशित करने की विस्तृत शब्दावली तथा शक्ति है।

इन्हीं गुणों के साथ इसका परिमार्जन करते हुए सुकवियों ने इसमें और भी ऐसे गुण उत्पन्न कर दिये, जिनका होना काव्य-भाषा के लिए अनिवार्य या आवश्यक है। उन्होंने इसमें रमणीयता (जो काव्य का एक सर्वप्रधान गुण है*) लाने के लिए भाव-भावनानुभूति की व्यंजकता तथा स्निग्धता का संचार कर दिया। संयुक्त वर्णों की, सारल्य-सिद्धान्त (Law of Simplification) के द्वारा, इति श्री हीं सी कर दी और सरल, सुबोध, तथा, मृदु-मंजु शब्दों की, जिनमें भाव-गाम्भीर्य भी ख़ूब था, वृद्धि कर दी। इसी प्रकार उन्होंने इसमें लालित्य आदि गुणों का भी समावेश करके इसे काव्य के सर्वथोचित बना दिया। इतना करते हुए भी वे लोग इसे स्थायी साहित्योचित एक निश्चित स्थिरता देने के लिए, जो भाषा की व्यापकता के लिए भी बहुत सहायक होती है, एकरूपता न दे सके। यह कार्य आचार्य केशव से प्रारम्भ किया गया, बिहारी, घनानन्द, पद्माकरादि के द्वारा बढ़ाया गया और श्रीरत्नाकरजी के द्वारा पूरा-सा किया गया।

व्रजभाषा काव्यभाषा तो होगई और सदा के लिए होगई किन्तु वह गद्यभाषा न हो सकी क्योंकि उसमें गद्योचित गुणों का संचार करने की ओर विद्वानों ने विशेष ध्यान ही न दिया। कुछ लोगों ने उसका प्रयोग गद्य-रचना में किया तो, किन्तु उन्हें सफलता न मिली क्योंकि भाषा का रूप ही गद्य के उपयुक्त न था। साथ

---

*"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"।

ही उस समय पद्य का ही प्रचार विशेष था। मुद्रण-यंत्र, काग़ज़ आदि की सुविधाओं की अविद्यमानता से उस समय गद्य-रचना का प्रचार-प्राबल्य न था, उसके स्थान पर पद्य का ही प्रचार था, साथ ही समय-समाजादि की भी अभिरुचि पद्य के ही पक्ष में थी। इसी लिए उस समय गद्य-रचना न होती थी और भाषा का गद्योचित रूप में विकास भी न हो सका था।

व्रजभाषा-गद्य—श्री वल्लभाचार्य ने अपना "वन-यात्रा" नामी ग्रंथ गद्य में लिखा किन्तु फिर इनका अनुकरण विशेषरूप से न किया जा सका। इनके सुपुत्र **श्रीविट्ठलनाथ** ने (जं० सं० १५७२) ५२ पृष्ठ का "शृंगार-रस-मंडन" नामी ग्रंथ, जिसमें राधा-कृष्ण-विहार का वर्णन है, गद्य में रचा और इन्हीं की देखा-देखी इनके सुपुत्र **गोकुलनाथ** ने भी ८४ वैष्णवों और २५२ वैष्णवों की वार्ता नामक दो गद्य-ग्रंथ रचे।

इन सबके गद्य में सुव्यवस्था, नियम-नियंत्रण और एकरूपता का अभाव सा है, उसमें वार्त्तालाप-शैली से व्यावहारिकता ही का प्राधान्य है, साथ ही उसमें ग्रामीणता की भी पुट है। वार्त्ताओं का यह प्रभाव अवश्य उल्लेखनीय है कि इन्हीं को देखकर जीवनियों के संग्रह-ग्रंथों की रचना भी हो चली। इन दो-चार ग्रंथों के पश्चात् भी समय समय पर कुछ दो-एक लेखकों ने व्रजभाषा-गद्य में रचनायें कीं किन्तु वे यहाँ उल्लेखनीय नहीं। व्रजभाषा के गद्य का प्रचार पूर्णरूप से कदापि न हो सका।

अन्य प्रान्तीय कृष्ण-काव्यकार—यह हम दिखला ही चुके हैं कि कृष्ण-भक्ति के प्रचार-प्रवाह के समान कृष्ण-काव्य का भी प्रचार-प्रवाह बंगाल-बिहार से प्रारम्भ होकर (बीच में राम-काव्य से प्रभावित होनेवाले अवध-प्रान्त को छोड़ कर) व्रज में होता हुआ (सिक्ख-धर्म-प्रभावित पंजाब को छोड़) मारवाड़ आदि पश्चिमीय प्रान्तों को गया है। कृष्ण-काव्य ने अवध को यों ही नहीं छोड़ दिया, वरन् वहाँ के राम-काव्य पर अपना प्रभाव डालकर ही उसे छोड़ा है। इसी के प्रभाव से राम-काव्य में वात्सल्य-भाव तथा मुक्तक अथवा गीतात्मक पद-काव्य की रचना-शैलियों का संचार हुआ है। इसी प्रकार पंजाब के ऊपर भी इसका प्रभाव पड़ा है। मुसलमानों (जो सूफ़ी-मत-सम्बन्धी प्रेमात्मक कथा-काव्य रचा करते थे) पर भी इसका अच्छा प्रभाव पड़ा और उन्होंने भी इसे तथा इसकी व्रजभापा को अपनाना प्रारम्भ कर दिया।

मारवाड़ एवं राजपूताने में कृष्ण-भक्ति एवं कृष्ण-काव्य का अच्छा संचार-प्रचार हुआ है :—

मीराबाई—यहाँ मीराबाई का नाम सदा अमर है, वह यहाँ वही स्थान रखती हैं (विशेषतया स्त्री-समाज में) जो व्रज में महात्मा सूरदास का है। ये ही सर्वाग्रगण्य देवी हैं जिन्होंने हिन्दी में ऐसी सुन्दर काव्य-रचना सबसे प्रथम की है। साहित्य-क्षेत्र में सत्काव्य-रचना करनेवाली देवियों में आप ही को हम प्रथम मानते हैं।

इनसे पूर्व (जयकाव्य-काल में) देश, काल तथा समाज की ऐसी स्थिति न थी कि स्त्री-समाज पुरुषों के साथ चलता हुआ साहित्य-क्षेत्र में काव्य-रचना जैसा गुरु कार्य कर सकता। भक्ति-काल से ही स्त्री-समाज ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया है और कृष्णभक्ति-काव्य की रचना में पुरुषों को सहयोग सा दिया है।

जीवनी—मीराबाई का जन्म मेडतियाराज्य के राठौर श्रीरत्न के यहाँ सं० १५७३ में हुआ। इन्हीं के प्रपितामह श्रीजोधाजी थे जिन्होंने जोधपुर बसाया था। बाईजी का ब्याह उदयपुर के राज-कुमार श्रीभोजराज से हुआ। बाल्यकाल से ही ये कृष्ण-भक्ति में प्रेम या रुचि रखती थीं। थोड़े ही समय में ये पति-विहीन हो गईं, तब से इन्होंने श्रीकृष्ण-भक्ति में ही अपने को लीन-विलीन कर दिया। ये कृष्ण-प्रेम में उन्मत्त सी होकर नाचने लगती थीं। भक्त साधुओं का ये बहुत सत्कार करती थीं। इनके विषय में बहुत सी जनश्रुतियाँ हैं। कहते हैं कि इनके घर के लोगों ने रुष्ट होकर इन्हें कई वार विष भी दिया, पर कुछ न हुआ। इन्होंने पूरी तीर्थयात्रा की। इनका परिचय श्री गो० तुलसीदास से भी था। नाभादास एवं ध्रुवदास ने इनकी बड़ी प्रशंसा की है।

इनकी भक्ति—इनकी भक्ति में माधुर्य-भाव का ही प्राधान्य है, ये अपने को श्रीकृष्णजी की प्रिय परिचारिका सी मानती थीं, और श्रीकृष्ण को अपना इष्टदेव या पति समझती थीं।

दाम्पत्यभाव के साथ ही दास्य (पातिव्रतपूर्ण सेव्य-सेवक) भाव की भी अच्छी पुट इनकी भक्ति में है।

इनकी भाषा, शैली और पुस्तकें—इन्होंने पद-शैली से ही विशेषतया रचना की है। इनकी भाषा राजपूतानी मिश्रित व्रजभाषा है, कहीं कहीं वह शुद्ध, प्रौढ़ और अतिसुन्दर भी है। इनकी रचना में प्रेम की पीर और वियोगानुभूति की मार्मिक व्यञ्जना है।

इनके रचे हुए ४ ग्रंथ प्रसिद्ध हैं:—

१—नरसीजी का मायरा।

२—गीतगोविन्द की टीका, जिससे इनका संस्कृत-ज्ञान भी प्रकट होता है।)

३—रागगोविन्द।

४—रागसोरठ के पद।

मारवाड़ एवं राजपूताने में कुछ और भी कृष्ण-काव्यकार हुए हैं, जो विस्तार-भय से विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

गुजरात-प्रान्त में **नरसिंह मेहता** का नाम स्मरणीय एवं विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने कृष्ण-काव्य में आध्यात्मिक भावों का भी बड़ा ही सुन्दर समावेश किया है जिससे उसमें रहस्यवाद की भी कुछ झलक आगई है। श्रीकृष्ण को ब्रह्म और गोपियों को आत्माओं के रूप में रख कर आपने भक्ति में दार्शनिक तत्त्वों का भी अच्छा सामञ्जस्य किया है।

आपकी भाषा गुजराती तथा महाराष्ट्री ही है, उसे हम हिन्दी नहीं कह सकते।

इनके अतिरिक्ति और कोई कवि यहाँ उल्लेखनीय नहीं है।

अभ्यास

१—हिन्दी-कृष्ण-काव्य का आधार क्या है ? संस्कृत के कृष्ण-काव्य के मुख्य ग्रन्थों का सूक्ष्म परिचय दो।

२—कृष्ण-भक्ति का विकास-प्रकाश किस प्रकार हुआ। उसमें क्या रूपान्तर हुए और उसका प्रवाह किस प्रकार प्रगतिशील हुआ ?

३—कृष्ण-काव्य का प्रचार-प्रस्तार कहाँ से, कैसे, और किन रूपों में हुआ है ?

४—व्रजभाषा के स्वाभाविक गुण क्या हैं, उनका क्या प्रभाव किस पर कैसे पड़ा ?

५—व्रजभाषा के विकास पर सूक्ष्म प्रकाश डालो और सिद्ध करो कि वह एक समय सर्वमान्य व्यापक काव्य-भाषा थी।

६—अवध और पंजाब में कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-काव्य का प्रचार क्यों न हो सका ?

७—भक्ति के मुख्य कितने रूप हैं, उनकी सूक्ष्म व्याख्या करो।

८—भिन्न भिन्न प्रान्तों के मुख्य मुख्य कृष्ण-काव्यकारों का सूक्ष्म परिचय दो।

व्रज में कृष्ण-काव्य

व्रज के संप्रदाय—कृष्ण-काव्य की विवेचना के पूर्व व्रज के कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी सम्प्रदायों का कुछ परिचय प्राप्त कर लेना ठीक जान पड़ता है। व्रज में ही कृष्णोपासक महात्माओं ने अपने अपने केन्द्र बनाये थे क्योंकि यही श्रीकृष्ण का लीला-प्रदेश है। अस्तु, मुख्य रूप से अधोलिखित सम्प्रदाय व्रज में केन्द्रीभूत होकर अपनी अपनी विशिष्ट कृष्णोपासना की पद्धतियों का प्रचार करते हुए कृष्ण-काव्य की रचना का प्रचार-प्रस्तार कर रहे थे।

१--**वल्लभीय संप्रदाय**—इसे स्वामी वल्लभाचार्यजी ने स्थापित किया। इन्होंने विशिष्टाद्वैत-सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्त तो **श्रीविष्णु स्वामी** से और कृष्णोपासना-सम्बन्धी तत्त्व **श्रीनिम्बार्क स्वामी** से लिया। इन्होंने अद्वैतवाद पर अपनी भी विशेष छाप लगाई है। इनका मत है कि सत्, चित् और आनन्दस्वरूप ब्रह्म स्वेच्छानुसार अपने इन तीनों रूपों को कभी तो प्रकट और कभी अप्रकट रूप में रखता है। चैतन्य जगत् इन्हीं तीनों के अंशतः आविर्भाव से सत्तामय होता है। माया, ब्रह्म की इच्छानुगामिनी शक्ति है, अस्तु मायामय संसार भी ब्रह्ममय

है। जीव में जब उक्त तीनों रूपों का आविर्भाव तथा माया का तिरोभाव होता है तब वह अपने शुद्ध ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होता है और ऐसा उस ब्रह्म की कृपा से ही होता है। यही कृपा या अनुग्रह "**पोषण या पुष्टि**" कहलाती है, भक्ति या उपासना इसी के प्राप्त करने का साधन-मात्र है। इसी लिए इस भक्ति को **पुष्टिमार्गीय** कहते हैं। इनकी भक्ति में वात्सल्य तथा प्रेम-भाव का प्राधान्य है, इसी से इस संप्रदाय के भक्त बालकृष्ण तथा प्रेमी कृष्ण के उपासक होते हैं।

इसी सम्प्रदाय में हिन्दी-साहित्य के सूर्य श्रीसूरदास तथा श्रीनन्ददास आदि 'अष्टछाप' के प्रसिद्ध कवि हुए हैं।

श्रीवल्लभाचार्य के शिष्य एवं सुपुत्र श्रीविट्ठलनाथजी ने चार शिष्य तो अपने पिताजी के (१—श्रीसूरदास, २—श्रीकृष्णदास, ३—परमानन्ददास, ४—कुंभनदास) तथा चार शिष्य अपने (५—श्रीचतुर्भुजदास, ६—श्रीनंददास, ७—श्रीगोविन्द स्वामी, ८—छीत-स्वामी) लेकर '**अष्टछाप**' की रचना की। साहित्य-क्षेत्र में इसी ने स्तुत्य कार्य किया है।

२—राधावल्लभीय सम्प्रदाय—स्वप्न में श्रीराधिकाजी से मंत्र-दीक्षा प्राप्त करके **श्रीहितहरिवंशजी** ने राधिकोपासना को श्रीचैतन्य के समान प्रधानता देते हुए इसकी स्थापना की, सम्भवतः इस पर रूपसनातन का ही पूरा प्रभाव पड़ा था। इसमें राधा और कृष्ण दोनों को प्रेमी और प्रेमिका के रूपों में लेकर उपास्य माना जाता है। अस्तु, इसमें प्रेम-भाव तथा शृङ्गार की ही प्रधानता

रहती है। इस सम्प्रदाय ने भी हिन्दी-साहित्य की अच्छी श्रीवृद्धि की है।

स्वयं हितहरिजी, हितध्रुवजी तथा चाचा वृन्दावनजी इसके प्रमुख भक्त कवि हुए हैं।

३—**सखी (टट्टी) सम्प्रदाय**—इसके प्रवर्तक **श्रीहरिदासजी** थे, इस पर चैतन्य की उपासना-पद्धति का पूरा प्रभाव पड़ा है। सख्य-भाव के समान इसमें **सखी-भाव** से उपासना की जाती है। भक्त लोग अपने को कृष्ण-प्रिया श्रीराधिकाजी की सखी के रूप में मानते हैं। इसमें दार्शनिक तत्त्व का उपासना के सामने प्राधान्य नहीं है। इसमें राजा नागरीदास, शीतलदास आदि मुख्य भक्त कवि हुए हैं। इस सम्प्रदाय के अन्य कवि उल्लेखनीय नहीं।

४—**गौड वैष्णवीय सम्प्रदाय**—यह चैतन्य स्वामी के द्वारा स्थापित किया गया था और उनके शिष्य **रूपसनातनजी** के द्वारा व्रज में फैलाया गया था। इसमें राधिकोपासना का ही प्राधान्य है। इसमें ललितकिशोरीजी, ललितमाधुरीजी तथा कुन्दनलाल मुख्य भक्त कवि हुए हैं।

५—**हितसम्प्रदाय**—यह उक्त सम्प्रदाय का एक विशेष रूप है। इसे **श्रीहितजी** ने चलाया और राधाकृष्ण की उपासना को प्रधानता दी। **श्रीघनानन्द** इसके परम प्रसिद्ध कवि हुए हैं।

इनके अतिरिक्त भी कुछ साधारण पंथ या मार्ग प्रचलित किये गये किन्तु वे विशेष प्रसिद्ध न हो सके। उनके कवि भी कुछ विशेष उल्लेखनीय नहीं हुए।

कृष्ण-काव्यकार

वल्लभीय सम्प्रदाय—इसी सम्प्रदाय में, जैसा कहा जा चुका है, लोक-प्रसिद्ध "अष्टछाप" की प्रतिभा ललितरूप से कलित हुई है। अष्टछाप के यों तो आठों कवि साहित्य के सुकवि हुए हैं, किन्तु उनमें से परम स्तुत्य हैं:—

१—सूरदास—इनकी जोवनी बहुत कुछ संदिग्ध है। इनका जन्म-सं० १५४० में और देहावसान-सं० १६२० के आस-पास माना गया है। ८४ वैष्णवों की वार्ता में इन्हें सारस्वत ब्राह्मण रामदास का और दृष्टकूट में ब्रह्मभट्ट चन्द्रवरदायी के वंशज हरिचन्द्र का पुत्र कहा गया है। ये जन्मान्ध थे, कहते हैं, कि इन्हें, श्रीकृष्णजी ने एक कूप से निकाला था। इन्होंने गऊघाट (मथुरा) के पास श्रीवल्लभजी से दीक्षा ली और उन्हीं की आज्ञा से भागवत की कथा हिन्दी-पदों में गाई। कहते हैं कि इन्होंने सवा लक्ष पद रचे, किन्तु अब तक इनके ६००० के ही लगभग पद मिल सके हैं।

इनकी भक्ति—वल्लभीय सम्प्रदाय की नीति के अनुसार इनकी भक्ति में भी वात्सल्य-भाव की प्रधानता है। ये विशेष-रूप से बालकृष्ण के ही उपासक थे। इन्होंने अपने प्रभाव से उस सम्प्रदाय में सख्य-भाव-प्रधान भक्ति का भी संचार कर दिया इसी से इनके कृष्ण-काव्य में कृष्ण अपने बालरूप तथा प्रेमो नायक के रूप में चित्रित मिलते हैं। कृष्ण की बाल-लीला तथा प्रेम-लीला का इन्होंने बड़ा ही मर्मस्पर्शी, मनोरम और भावपूर्ण

वर्णन किया है। वात्सल्य और प्रेम की समस्त भावनाओं की लोकव्यापिनी अनुभूति-व्यञ्जना तथा उसके भाव-समूह का आद्योपांत चित्रण इनके काव्य में प्रधानता से मिलता है।

इनके प्रेम-सौन्दर्य—इनके प्रेम का रूप परम स्वाभाविक और सच्चा है, वह लौकिक होता हुआ भी अलौकिकता का आभास देता है। जिस सौन्दर्य के ये उपासक हैं वह विश्वमोहन, अनन्त और अलौकिक है, हाँ लौकिक रूप में वह प्रकट अवश्य होता है। उस पर असीम आनन्द की आभा खेलती रहती है। वह साकार तथा सगुण रूप में ही प्रदर्शित होता है। इनके प्रेम और सौन्दर्य में आत्मोत्सर्ग-पूर्ण लोकोत्तर आनन्द की अभिव्यञ्जना भी पाई जाती है। प्रेम और सौन्दर्य को इसी प्रकार लेकर इन्होंने कृष्ण का नख-शिख-शृङ्गार, तथा प्रेम-रहस्य लिखा है।

इनका काव्य—इसकी आलोचना को हम ३ मुख्य खंडों में रखते हैं, प्रथम भाषा, फिर भाव और फिर काव्य-कौशल।

(१) भाषा—इन्होंने समस्त रचना व्रजभाषा में ही की है। इनकी रचना में भी, गोसाईंजी के मानस की भाँति, बहुत सा अंश क्षेपक का आ गया है जिससे भाषा का रूप संदिग्ध सा हो जाता है। कहीं कहीं फ़ारसी के भी शब्द एवं पद मिलते हैं। बोलचाल की व्रजभाषा को उठाकर इन्होंने अपने प्रतिभा-कौशल से उसे सरस, भाव-पूर्ण, मृदु और मधुर करते हुए, साहित्योचित रूप में रख दिया है, वह सुव्यवस्थित, प्रौढ़ और परिपक्व हो गई है। यह

अवश्य है कि उसमें सुविनिश्चित एकरूपता नहीं है, हाँ उसमें माधुर्य, प्रसाद तथा लालित्यादि गुण पूर्ण रूप से मिलते हैं।

२—**शैली**—सूर ने केवल एक ही शैली में रचना की है, यद्यपि उनके समय में कई प्रकार की रचना-शैलियाँ प्रवर्तित थीं। मुक्तक काव्योचित संगीतमयी पद-शैली ही को इन्होंने अपनाया है। कदाचित् विद्यापति और जयदेवजी का ही यह प्रभाव था। साथ ही इन्हें प्रबन्ध काव्य का लिखना इष्ट भी न था। कूट-काव्य की भी इन्होंने ख़ूब रचना की है, यह कदाचित् कबीर की देखादेखी ही किया है।

३—**भाव**—इनकी एकाभिमुखी प्रतिभा ने अपने अनुकूल कृष्ण की जीवनी के केवल वे ही अंश चुने हैं जिनमें वात्सल्य भाव और प्रेम-शृङ्गार की पूरी प्रधानता है। बालकों और प्रेमियों की सभी भावनायें, विचार-धारायें तथा लीलायें बड़ी ही कुशलता से चित्रित की हैं। यह अवश्य है कि जहाँ इन्होंने प्रबन्धात्मक ढङ्ग से कथा का वर्णन उठाया है वहाँ इन्हें मुक्तक-रचना के समान सफलता नहीं मिली। मानव-प्रकृति का ऐसा सूक्ष्म चित्रण इन्होंने किया है कि कोई भी कवि वैसा नहीं कर सका।

शृङ्गार (संयोग और वियोग) के क्षेत्र में सूर अद्वितीय ही ठहरते हैं, अन्य रसों को उन्होंने उठाया ही नहीं। चरित्र-चित्रण भी इनकी रचना में नहीं पाया जाता, क्योंकि जीवन की केवल बाल और प्रेम-सम्बन्धी लीलाओं को ही लेकर मुक्तक शैली से एकांगी जीवन का ही चित्रण करने से इसके लिए कोई आधार ही

नहीं रहता। यह अवश्य है कि लोक-पक्ष को प्रधानता देने से इनके प्रेम और शृङ्गार में वह पावनता नहीं पाई जाती जो तुलसी-दास के प्रेम और शृङ्गार में है।

ज्ञान-योग और भक्ति-प्रेम की तुलनात्मक आलोचना करते हुए इन्होंने अपने सम्प्रदाय की परम्परा के अनुकूल भक्ति-प्रेम ही को गुरुतर माना है। यहाँ दार्शनिक भावों का भी अच्छा आभास मिलता है। कहीं कहीं आध्यात्मिक रहस्यमयी बातों का भी संकेत प्राप्त होता है।

४—काव्य-कौशल—इनकी रचना में सत्काव्य के सभी लक्षण अपने पूर्णरूप में चारुता के साथ मिलते हैं। रस, (विशे-षतया शृङ्गार-करुण) भाव, अलंकार, ध्वनि, लक्षणा, व्यञ्जना, गुण (प्रसाद, माधुर्य, लालित्यादि) आदि सभी पूर्ण उत्कर्ष के साथ प्राप्त होते हैं। उक्ति-वैचित्र्य, वाक्चातुरी, रचना-वैचित्र्य, आदि भी बड़ी ही चातुरी-माधुरी के साथ इनकी रचना को चम-त्कृत करते हैं।

प्रभाव—सूरदास के काव्य का यह एक बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है कि उनके बाद काव्य-क्षेत्र में पद-शैली का व्यापक प्रचार हो गया और कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-काव्य का विस्तार बढ़ गया। यहाँ तक कि कृष्ण ही को काव्य का एक विषय बनाकर उन्हीं पर ढालते हुए कवि लोग अपनी शृंगारमयी एवं प्रेम-पूर्ण भावावलि तथा भावना-मालिका को व्यक्त करने लगे। प्रेम और शृंगार में लौकिक पक्ष की ही विशेष प्रधानता कर देने से आगे

चलकर कवियों तथा जनता की प्रवृत्ति धार्मिक काव्य में भी प्रगाढ़ प्रेम और गाढ़े शृंगार (जो कभी कभी अश्लील सा भी हो जाता है) की पुट देने की ओर झुक गई।

सूर से तुलसीदास भी प्रभावित हुए हैं, उन्होंने भी पद-शैली में रचना की, और साथ ही वे भी लीला-काव्य एवं मुक्तक-रचना की ओर बढ़े। व्रजभाषा तथा उसके काव्य का प्रसार-प्रचार बढ़कर साहित्य में सर्वोच्च आसन पर बैठ गया।

धार्मिकता—सूर यद्यपि कृष्णोपासक ही थे, तथापि वे तुलसी के समान न थे। उन्होंने धार्मिक उपदेश नहीं दिये और न अन्य देवताओं की ही उपासना का संकेत किया। उन्होंने अपने मनोमोहक काव्य से कृष्ण-भक्ति तथा तत्पूर्ण काव्य को लोक में व्यापक अवश्य कर दिया। उन्होंने तुलसी के समान आदर्शवाद भी नहीं दिखलाया। यद्यपि कुछ स्फुट पदों में उन्होंने राम-कथा भी लिखी है तथापि उस विचार से और उस प्रकार नहीं जिससे तुलसी ने लिखी है। इसमें वे सफल भी वैसे ही हुए हैं जैसे कृष्ण-गीतावली में तुलसीदास।

साहित्य में स्थान—"सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केशवदास" से स्पष्ट है कि सूर साहित्याकाश में सूर्य के ही समान हैं। वास्तव में यह यदि पूर्णांश में नहीं तो बहुत बड़े अंश में अवश्यमेव ठीक है। सूर के काव्य में मानव-जीवन की अनेक-रूपता के साथ विस्तृत व्याख्या नहीं, केवल एकांगी जीवन का ही विशद चित्रण है, किन्तु वह चित्रण सर्वांगपूर्ण और अद्वितीय है।

यदि यही देखा जाये तो वे अपने क्षेत्र में अकेले ही हैं, हाँ तुलसी-दास जीवन की अनेकरूपता के चित्रण में इनकी अपेक्षा बहुत बढ़ गये हैं।

वात्सल्य एवं सख्यपूर्ण भक्ति, प्रेम-पूर्ण शृंगार तथा मुक्तक-शैली में वे अपना सानी नहीं रखते। लोक-मांगल्य तथा उपयोगिता की दृष्टि से तो वे तुलसी से कुछ न्यून से पड़ते हैं, हाँ काव्य-दृष्टि से वे यदि अधिक नहीं तो तुलसी के समान अवश्य ही हैं।

उनके काव्य का आधार—सूर ने यद्यपि कृष्ण-लीला भागवत से ही ली है, वही एक-मात्र उनका आधार है, तो भी कई स्थलों पर उन्होंने उसमें अपनी कुशल कल्पना से मौलिक रूपान्तर या परिवर्तन भी किये हैं और इस प्रकार अपनी स्वतंत्र सत्ता भी प्रकट की है। कृष्ण की बाल-लीला में चोटी बढ़ना, आदि बातें उनकी ही कल्पना की उपजाई हुई हैं।

नन्ददास—अष्टछाप में सूरदास के पश्चात् इन्हीं को द्वितीय स्थान दिया गया है। इनकी भी जीवनी निश्चित रूप में नहीं मिलती। इनका कविता-काल सं० १६२५ के आगे-पीछे माना गया है। ये सूरदास के समकालीन थे। कुछ लोग तो इन्हें तुलसी-दासजी का सगा भाई और कुछ गुरु-भाई ही मानते हैं। ये कान्य-कुब्ज वंशीय सुकुल थे, इनके गुरु शेष सनातन थे। इनका हृदय बड़ा ही सरस, सदय और उदार था, ये बड़े ही भावुक, प्रेमी और सौंदर्योपासक थे। कला के भी ये बड़े प्रेमी थे।

इन्होंने श्री विट्ठलनाथ (वल्लभजी के सुपुत्र) से दीक्षा ली और कृष्णभक्त हो अष्टछाप के द्वितीय कवि हुए।

काव्यालोचन—नन्ददास की प्रतिभा बहुमुखी और परम प्रौढ़ थी, आपका काव्य भी इसी से बहुत ही उच्च कोटि का है। उसमें सत्काव्य के समस्त गुण विद्यमान हैं। सूर के समान इन्होंने पद-शैली में रचना न करके साहित्यिक छंदों में ही अपना काव्य लिखा है। इनकी भाषा परम प्रौढ़, परिष्कृत और सुव्यवस्थित है, प्रसाद और माधुर्य गुण तो उसमें कूट कूट कर भरे गये हैं। पदावली बड़ी ही ललित, सानुप्रासिक और समलंकृत है, वाक्य-विन्यास गठा हुआ, मृदुल और भावपूर्ण है। आप ही के प्रभाव से व्रजभाषा के साहित्यिक रूप का झुकाव अलंकृत काव्य-भाषा की ओर हो गया।

आपकी रचना में काव्य-कला का स्तुत्य कौशल, संगीत का श्रुतिसुखद सौंदर्य तथा प्रेमी-मानस की अनुभूत भाव-भावनाओं का सजीव चित्रण पाया जाता है। आपने अपने भ्रमर-गीत के द्वारा संगीतात्मक छंद-रचना की एक नवीन शैली चलाई, जिसमें ४ पद रोला छंद के रहते हैं और अंत में १० मात्राओं की एक पंक्ति, जो पूर्वगत पंक्ति की सहायक तथा उसे सुगेयकर होती है, रहती है।

पुस्तकें—आपने लगभग २६ पुस्तकें रचीं, जिनमें से, १४ ही सुलभ हैं। कुछ खोज से और मिली हैं। इनमें से रासपंचाध्यायी (रासलीला-वर्णन) भ्रमरगीत, अनेकार्थ नाममाला, और

अनेकार्थमंजरी विशेष प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि आपने भागवत का भाषानुवाद भी किया था, जिसे फिर नष्ट कर दिया। आप कोषकार (अंतिम दो पुस्तकें कोश की ही हैं), टीकाकार ("विज्ञानार्थ प्रकाशिका" संस्कृत-ग्रंथ की टीका की थो) तथा गद्य-लेखक भी थे। राजनीति आदि अन्य विषयों का भी परिचय आपने दिया है। भ्रमरगीत का अनुकरण कतिपय कवियों ने किया है किन्तु सफलता ऐसी किसी को भी नहीं प्राप्त हो सकी।

सूर और नन्ददास दो ही कवि अष्टछाप के मौलिक-मणि हैं शेष कवि तो भक्त ही विशेष हैं, हाँ कुछ रचनायें उनकी भी अच्छी हैं। अस्तु केवल सूक्ष्म परिचय ही उनका यहाँ पर्याप्त होगा।

अन्य कवि—**परमानन्ददास** का स्थान अष्टछाप में तृतीय माना जाता है। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण और कन्नौज के निवासी थे। आपने श्रीवल्लभजी से दीक्षा ली। कहते हैं कि इन्होंने सूर के समान "परमानन्दसागर" नामक एक बड़ा ग्रंथ रचा था, किन्तु यह अब तक प्राप्त नहीं हुआ। आपकी स्फुट रचनाओं से ज्ञात होता है कि आप एक बड़े ही प्रतिभावान् कवि थे, रचना आपकी सरस, मधुर, प्रौढ़ और भक्ति-भाव से पूर्ण है, उसमें तल्लीनता का पूरा आभास है। खोज से आपका रचा हुआ "ध्रुवचरित्र" तथा दो पुस्तकें "पद" और दानलीला नामो आपकी और मिली हैं।

इनके अतिरिक्त **कुँभनदास, कृष्णदास, चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी** और **छीतस्वामी** भी अष्टछाप के सुकवि हैं, किन्तु

इनकी रचनायें साधारण श्रेणी की ही हैं। भक्ति-भाव तो सभी में पाया जाता है, किन्तु साहित्यिक काव्य-कौशल साधारण रूप में ही मिलता है। इनमें से, गोविन्दस्वामी एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ तथा तानसेन से भी बढ़कर गायक थे। कुछ की स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं प्राप्त होता, कुछ की दो चार छोटी छोटी पुस्तकें ही प्राप्त होती हैं जो विशेष उल्लेखनीय भी नहीं हैं। अस्तु, अब हम अन्य सम्प्रदायों के मुख्य मुख्य सुकवियों का सूक्ष्म उल्लेख यहाँ करते हैं।

राधावल्लभसम्प्रदायः—हितहरिवंश—मथुरा-निकटस्थ बाद गाँव के गौड़ ब्राह्मण श्रीकेशवदास मिश्र के घर में आपका जन्म सं० १५५९ में हुआ, आपकी माता का नाम तारामती था। स्वप्न में राधाजी ने इन्हें गुरुमंत्र दिया, बस ये राधिकोपासक हो गये। इन्होंने राधावल्लभ नामक एक स्वतंत्र सम्प्रदाय चलाया जिसमें राधाजी को रानी और श्रीकृष्ण को उनका दास मानते हुए कृष्ण-प्रसाद के लिए राधिका की ही विशेष भक्ति की जाती है। इन पर माधवाचार्य तथा निम्बार्कजी का अच्छा प्रभाव पड़ा था। ये संस्कृत के अच्छे पंडित थे, इन्होंने "राधासुधानिधि" नामक पुस्तक संस्कृत में ही लिखी है।

इनका काव्य—हितजी व्रजभाषा में भी बड़ी ही सुन्दर, सरस और मधुर रचना करते थे, सारी रचना राधा-भक्ति-भाव ही से सम्पन्न है। काव्य-कला का कौशल, भाषा का सौष्ठव और रचना-सौन्दर्य इनके पदों में अच्छा प्राप्त होता है। इनके ८४ पदों

का संग्रह "हित-चौरासी" नाम से विख्यात है। इनके प्रोत्साहन से इनके संप्रदाय में कई अच्छे कवि हुए, जिनसे हिन्दी की पर्याप्त श्री-वृद्धि हुई। नख-शिख और रास-वर्णन इनका बहुत ललित एवं सुन्दर है।

अन्य कवि—हितजी के शिष्यों में से विशेष उल्लेखनीय हैं:—

१—**वृन्दावनदास**, जिन्होंने हितजी की वंदना पर "हित-सहस्रनामावली" नामक पुस्तक रची। २—**हरीरामव्यास**-ओरछा-नरेश श्रीमधुकर शाह के राजगुरु और संस्कृत के पंडित थे, इन्होंने भी "रासपंचाध्यायी" लिखी, जिसे सूरसागर में लोगों ने मिला दिया है। भक्ति, ज्ञान और वैराग्य पर आपने ख़ूब लिखा है। रचना इनकी सरस, सुन्दर और काव्य-गुण-सम्पन्न है।

इनके अतिरिक्त **हितपरमानन्द**, **ब्रजजीवनदास**, **ध्रुवदास** और **सेवकजी** भी अच्छे भक्त कवि हुए हैं, और उल्लेखनीय भी हैं किन्तु इनकी रचनायें स्फुट रूप में बहुत ही थोड़ी मिलती हैं, तथा साधारण श्रेणी की ही ठहरती हैं। अतः उल्लेखनीय नहीं हैं।

गौड़ वैष्णव—गदाधर भट्ट—भट्टजी श्रीचैतन्यजी के शिष्य और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। आपने ब्रजभाषा में बड़ी ही भावापन्न, सरस और उत्कृष्ट रचना की है। आपकी भाषा संस्कृत से प्रभावित होती हुई भी मृदुल, मधुर और मंजुल है, सामासिक पदों की ललित लड़ियाँ और काव्य-कौशलपूर्ण कड़ियाँ आपकी रचना

में खूब मिलती हैं। आपका रचना-काल सं० १५८० में माना गया है।

इनके अतिरिक्त "**सूरदास मदनमोहन**" जैसे दो-एक कवि इस सम्प्रदाय में और उल्लेखनीय कहे जाते हैं, किन्तु उनके केवल कुछ स्फुट पद ही प्राप्त होते हैं।

सखीसंप्रदाय—हरिदास—प्रथम तो ये निम्बार्क-मतानुयायी थे, फिर इन्होंने अपना एक अलग संप्रदाय "सखी या टट्टी संप्रदाय" के नाम से स्थापित किया, जिसमें सखी-भाव से कृष्णोपासना का विधान है। ये बड़े ही प्रसिद्ध संगीतज्ञ और सिद्ध भक्त थे, तानसेन और अकबर के ये संगीत-गुरु कहे जाते हैं। आपकी रचना में संगीत का इतना अधिक प्रभाव है कि उससे उसकी छन्दवत्ता को भी कुछ क्षति पहुँची है। फिर भी इनकी रचना सरस, सुन्दर और भावपूर्ण है। इनके पदों के कई संग्रह प्राप्त होते हैं।

इनके शिष्यों में से **विट्ठल विपुल, राजा नागरीदास, नरहरिदास, ललितकिशोरी** और **विहारिनिदास** मुख्य और उल्लेखनीय हैं। किन्तु इन सबके स्फुट पद ही पाये जाते हैं, जो 'व्रजमाधुरीसार' जैसे संग्रह-ग्रंथों में संगृहीत हैं।

निम्बार्कसम्प्रदाय—श्रीभट्ट, रसखान—इस संप्रदाय में **श्रीभट्ट, ध्रुवदास**, और "**रसखान**" विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से रसखान का स्थान विशेष ऊँचा ठहरता है। **श्रीभट्ट** कश्मीर

के प्रसिद्ध विद्वान् केशवजी के शिष्य थे। इनका रचा हुआ "युगुलशतक" नामक १०० मुक्तक पदों की पुस्तक का भक्त-समाज में बहुत आदर होता है। काव्य इनका सरल और साधारण ही है। हाँ तल्लीनता उसमें खूब है।

ध्रुवदास—कहते हैं कि ये स्वप्न में श्रीहितहरिवंश के शिष्य हुए थे। आपने छोटी-बड़ी ४० पुस्तकें रचीं, जिनमें से 'भक्तनामावली, (भक्तों का वर्णन) और "वामनबृहत्पुराण" (वामन पुराण का भाषानुवाद) भी है। इनकी रचना में भक्ति और प्रेम के तत्त्व खूब भरे हैं, इन्होंने दोहों, चौपाइयों, कवित्तों, सवैयों आदि भिन्न भिन्न छन्दों मं रचना की है। इनका रचना-काल सं० १६६७ से १७०० तक माना जाता है।

रसखान—दिल्ली के पठान-सरदार थे, फिर कृष्ण-भक्त होकर श्रीविट्ठलनाथ के शिष्य हो गये। ये बड़े ही प्रेमी, सौंदर्यो-पासक और सरस थे, भावुकता भो इनमें ख़ूब थी। इनको प्रतिभा भी बड़ी ही प्रौढ़ और तीव्र थी। इनका जन्म, सं० १६१५ मं, मरण सं० १६८५ में तथा रचना-काल १६४० के आगे माना गया है।

इनका काव्य—इन्होंने छन्दात्मक (न कि भक्तों की पदा-त्मक) मुक्तक काव्य-शैली से साधारण व्रजभाषा में बड़ी ही सरस और मधुर रचना की है, प्रसाद और माधुर्य इनकी भाषा के विशेष गुण हैं। पद-लालित्य भी इनमें अच्छा है। ये "सुजान" नामक किसी स्त्री के प्रेम में लीन थे, इसी से "सुजान रसखान"

के नाम से एक सुन्दर पुस्तक रची, इसमें १० तो दोहे कुछ सोरठे और शेष कवित्त और सवैये हैं जिनमें प्रेम और भक्ति की धारा उमड़ रही है।

इनकी रचना में अनुभूति-व्यंजना बड़े ही मर्मस्पर्शी रूप में है और प्रेमात्मक भाव-भावनाओं का अच्छा चित्रण पाया जाता है।

इनकी भाषा सीधी-सादी, स्वच्छ, सुव्यवस्थित और मधुर है उसमें संयुक्तवर्ण और पेंचीदा वाक्य-विन्यास नहीं, जिससे उसमें मृदुलता और स्पष्टता ख़ूब है। पदावली अलङ्कृत तो नहीं, किन्तु ललित बहुत है।

इनकी दो छोटी छोटी पुस्तकें मिलती हैं (१) प्रेमवाटिका, जिसमें शुद्ध प्रेम के निरूपण में ५२ दोहे हैं और उक्त (२) सुजान रसखान। हिन्दी के मुसलमान कवियों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है।

अब हम भक्ति या धार्मिक काव्य-काल के स्फुट कवियों में से यहाँ उन प्रमुख कवियों का सूक्ष्म **विवेचन देते** हैं जो विशेष उल्लेखनीय हैं।

अन्य भक्त और स्फुट कवि

प्राक्कथन—अपनी सरसता, मृदुलता और मञ्जुलता से ब्रजभाषा और उसके भक्ति-काव्य ने भक्ति और काव्य के सुधा-रस से समस्त हिन्दी-संसार को संसिक्त कर दिया था। इसके सुकवियों और महाकवियों ने अपनी रचनाओं से भक्ति-काव्य की

परम्परा को सुदृढ़ करते हुए हिन्दी-साहित्य को सौन्दर्य्यानन्द-रस से परिप्लावित कर दिया था।

परिवर्तन संसार का एक शाश्वत नियम है—जिस प्रकार समय, समाज और परिस्थितियों में परिवर्तन होता है उसी प्रकार जनता की विचार-धारा भी बदलती है और तदनुकूल साहित्य या काव्य की प्रगति में भी रूपान्तर हुआ करता है। यह अवश्य है कि किसी भी विचार-धारा और उसके प्रभाव से प्रकट होनेवाली काव्य-परिपाटी का नितान्त नाश नहीं हो जाता, वह परिवर्तन के प्रभाव से प्रकट होनेवाली नवीन विचार-धारा और परिपाटी के साथ यदि पूर्णरूप में नहीं तो शैथिल्य के साथ न्यूनाधिक रूप में अवश्य ही चलती रहती है।

भक्ति-काव्य की जिस परम्परा ने सूर और तुलसी को उत्पन्न करके हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि की है वही समयान्तर से कला-काल की अलङ्कृत काव्य-परिपाटी के सामने शिथिल होगई और अपने पूर्ववत् बल-वेग के साथ न चल सकी। यद्यपि इसने आगे भी चल कर कतिपय अच्छे भक्ति-काव्यकारों का उदय अवश्य किया, किन्तु, अपनी दीन दशा का नाश न कर सकी। इसकी प्रगति में भी रूपान्तर और परिवर्तन हो गये और आगे चल कर कृष्ण-काव्य भी कला-कौशलपूर्ण तथा क्लिष्ट हो चला।

राम-काव्य की रचना का कार्य, जो कृष्ण-काव्य के सम्मुख प्रथम ही दब चुका था और सर्वदिक् निरीक्षक गोस्वामी तुलसीदास की प्रतिभा ने जिसके किसी भी अंश को ऐसा अछूता न छोड़ा था

कि आगे कोई भी कवि उसे लेकर सत्काव्य की रचना कर सकता, एक प्रकार से बिलकुल ही दब गया। कृष्ण-काव्य अब प्रधान न रह कर गौण रूप में ही रह गया—उसमें वह पवित्रता, स्वाभाविकता और शुद्धता न रह गई वरन् विलासात्मक लौकिकता की कुछ अश्लीलता वैषयिक शृङ्गार की कुछ कलुषिता और कलाकृत कृत्रिमता आ चली। भगवान् कृष्ण काव्य के साधन से हो गये, उन्हीं पर ढाल कर कवियों ने अपनी भावनाओं तथा अपने भावों का प्रकाशन करना प्रारम्भ कर दिया।

भक्ति-काव्य का प्रचार प्रथम जनता में ही हुआ। कहना चाहिए कि यह जनता और भक्तों के हृदयों को ही हार्दिक प्रवृत्ति का ही प्रवाह था। धर्म-रक्षा के भाव से ही इसका उत्पादन और विकास हुआ था। "श्रेयः स्वधर्मो विगुणः" से ही इसे बल और वेग प्राप्त हुआ। जनता की धार्मिक प्रवृत्ति ने ही इसे प्रोत्साहित किया, कृष्ण-प्रेमानन्द के सुधा-रस ने ही इसे सरस करके भक्ति-भावना के साथ इसका प्रचार किया था। इसकी व्यापकता ने हिन्दी (व्रज-भाषा) और उसके साहित्य को लोकव्यापी कर दिया था, जिसके कारण मुसलमान अधिकारी और राज-दरबार भी इसकी ओर आकृष्ट हो चले थे। मुसलमान कवि भी इसमें सहयोग देने लगे थे।

अकबर के समय (शान्त-सुख-पूर्ण शासन) ने विद्वानों को शास्त्रीय पद्धति से उस साहित्यिक कार्य के करने का अवसर दिया जो हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ में उदित होकर तत्कालीन देशव्यापी

अशान्ति के प्रभाव से दब गया था। अकबर अपनी नीति-कुशलता तथा उदारता से हिन्दुओं की सहानुभूति प्राप्त करके अपने साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए हिन्दू-संस्कृति, हिन्दी-भाषा और हिन्दी के साहित्य को अपनाने लगे थे। उनका अनुकरण दूसरे राजाओं ने भी किया, अस्तु अकबर की सभा और राजाओं के दरबारों में विद्वान् साहित्यज्ञ और कला-कुशल कवि आने-जाने तथा रहने लगे थे और काव्य को कला-पूर्ण करते हुए साहित्य के शास्त्रीय अंग (विवेचन) को और भी बढ़ाने लगे थे।

ऐसे समय में कुछ प्राचीन पद्धतियों का पुनरुद्धार, कुछ नवीन परिपाटियों का नवोदय और काव्य-कला तथा शास्त्र के विकास का प्रारम्भ होना अवश्यम्भावी हो गया। संस्कृत के विद्वान् पंडित लोग भी राज-प्रोत्साहन पाकर हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में आने लगे, अस्तु अब साहित्य के दो केन्द्र तथा दो विशेष रूप हो गये। व्रज आदि तीर्थस्थानों में तो जनता के लिए भक्त कवि भक्ति-काव्य रचते थे और राज-दरबार में राजा वीरबल, कवि गंग और रहीम खानखाना जैसे व्यक्ति काव्य-कला को आदर्श रूप में लेकर रचनात्मक-कार्य कर रहे थे।

यह स्मरण रखना चाहिए कि काव्य-क्षेत्र में व्रजभाषा का ही व्यापक प्राधान्य-प्राबल्य रहा—काव्य-भाषा के रूप में वही प्रचलित रही। यह कृष्ण-काव्य का ही प्रभाव था कि अवधी-भाषा, जिसे जायसी ने तो उठाया और गोसाईं तुलसीदास ने विकसित करके साहित्यिक रूप दिया था, इसके प्रचार-प्राचुर्य्य के सामने

दब सो गई। हाँ, कुछ ऐसे कवियों की ब्रजभाषा को जो अवध या उसके समीपवर्ती प्रान्तों के थे, प्रभावित अवश्य करती रही।

भाषा अब सुन्दर, सरस तथा भावगम्य हो गई थी (क्योंकि कृष्ण-काव्यकारों ने उसका संस्कार एवं परिमार्जन ख़ूब कर दिया था) अब उसमें अलंकृत काव्य के लिए पर्य्याप्त क्षमता आचुकी थी। हाँ, वह गद्योपयुक्त न थी क्योंकि उसे गद्योचित रूप दिया ही न गया था—यही कारण है कि उस समय गद्य-रचना का श्रीगणेश तो हुआ और भाषा को सुव्यवस्थित तथा नियम-नियन्त्रित करके निश्चित और संयतरूप देने और गद्योचित बनाने का प्रयत्न कुछ हुआ किन्तु कुछ ऐसा विशेष कार्य इसका न हो सका जिससे गद्य-साहित्य की भी कुछ रचना होती।

भक्ति-काव्य में कुछ अन्य देवताओं, भक्तवरों और वीर महापुरुषों के **महिमा-स्तवन** का भी प्रचार काव्य-क्षेत्र में हुआ है। राधिका के समान अन्य देवियों की भी भक्ति उठाई गई है। गंगा, गौरी, सरस्वती, गणेश और शिव आदि का **स्तवन-काव्य** भी प्रारम्भ हुआ है। इसके साथ ही विशिष्ट **लीला-काव्य** (भगवान की किसी विशेष लीला या घटना का वर्णन), **पुण्यक्षेत्र स्तवन-काव्य** की रचनाएँ भी मुक्तक-रूप में आरम्भ हुई हैं।

नवीन शैलियाँ—इस काल में कई प्रमुख रचना-शैलियों का विकास हुआ है। संस्कृत की सप्त-शती-शैली को देखकर हिन्दी-**सतसई-शैली** (फिर इसी के आधार पर बावनी, पचासा और पचीसी आदि की अन्य शैलियाँ भी) चली जिसे कदाचित् गो०

तुलसीदास ने ही प्रौढ़ साहित्यिक रूप दिया है और जिसका उपयोग उन्होंने रामात्मक तथा नोतात्मक दोहा-काव्य में किया है। **बरवा-शैली** को भी कदाचित् गोसाईंजी न ही सबसे प्रथम साहित्यिक रूप दिया है और रहीम जैसे अन्य कवियों ने विकसित किया है। **भिन्न छन्दात्मक-शैली**—जिसके साहित्यिक रूप का उपयोग केशवदासजी ने ही किया है उठाई और चलाई गई। इनके अतिरिक्त अन्य शैलियाँ भी, जो पहले से प्रचलित थी, अब तक न्यूनाधिक रूप में चलती ही रहीं। कला-काल में दोहात्मक-और कवित्त-सवैयात्मक शैलियों का विशेष प्रचार हुआ। नीत्यात्मक दोहा-शैलो आगे चलकर **कुण्डलिया-शैली** में रूपान्तरित हो गई।

स्फुट भक्त-कवि—इस प्रकार भक्ति-काल के अवसान की प्रमुख बातों पर प्रकाश डाल कर अब हम कुछ स्फुट भक्त-कवियों का भी उल्लेख यहाँ करते हैं। हाँ यह भी यहीं कह देना उचित समझते हैं कि भक्त-कवि अब पूर्णरूप से परम्परागत भक्ति-काव्य की रचना-परिपाटी के ही अनुकूल काव्य-रचना न करते थे। यह अवश्य था कि वे भगवान् की भक्ति का भाव रखते तथा उसकी लीलाओं के आधार पर स्तवनात्मक रचना किया करते थे, जिसमें दीनबंधुता, करुणा, कृपा तथा भक्त-वत्सलता के भावों की ही पूरी प्रधानता रहती थी। साथ ही भगवान् के उस साकार (सगुण) रूप को भी लेते थे जिसमें प्रेमानन्द, सौंदर्य-शृङ्गार तथा लौकिक लीला का ही प्राधान्य था,

जो मर्यादापुरुषोत्तम होता हुआ भक्तों के लिए प्रकट हो मानव-लीला करता है।

निराकारवाद से प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्मोपासना-पूर्ण आध्यात्मिक रहस्य-पूर्ण दार्शनिक तत्व-संनिहित काव्य-रचना-शैली नितान्त ही लुप्तप्राय सी हो गई थी, इसी प्रकार सूफ़ी सिद्धान्तात्मक प्रेमपूर्ण कथा-काव्य की परिपाटी भी दब गई थी। राम-भक्ति के काव्य की प्रगति भी शिथिल हो चुकी थी।

अब लीलात्मक तथा चरित्रात्मक खण्ड-काव्य की ओर कवि लोग चलने लगे थे। अकबर ने संस्कृत के ग्रंथों का अनुवाद कराना प्रारंभ कर दिया था, कदाचित् उसी को देख कर, और तुलसीदास तथा नन्ददास जैसे महात्माओं से प्रभावित हो संस्कृत के धार्मिक ग्रंथों (पुराणादि) के अनुवादित करने की ओर भी कुछ कवियों का ध्यान जाने लगा था। रीति-ग्रंथों की ओर भी कवि लोग बढ़ रहे थे, और अनुवाद-रूप से कार्य करने लगे थे।

भक्त-कवियों पर अब कुछ-कुछ संत-कवियों का भी प्रभाव पड़ने लगा था। विट्ठल विपुल, सेवकजी (जिन्होंने "बानी" रची) विहारिनिदास (साखी रची) जैसे भक्त कवियों ने साखी और बानी आदि की भी रचनायें की हैं।

जीवन-चरित्र-काव्य—की भी रचना का विकास प्रारम्भ हुआ, किन्तु आगे उसे विशेष सफलता नहीं मिली। उसके उस रूप को तो, जिसमें पौराणिक महापुरुषों की जीवनियाँ ली जाती हैं, (यथा ध्रुव, प्रह्लाद, हरिश्चन्द्र आदि) कवियों ने विशेष अप-

नाया किन्तु उस रूप को छोड़ ही सा दिया जिसमें विद्वानों, भक्त-वरों तथा महाकवियों या महात्माओं की जीवनियाँ दी जाती हैं। **बाबा वेणीमाधवदास** ने ही "गोसाईंचरित" लिख कर इस ओर सफलता प्राप्त की। इनके जन्म और मरण सं० १६२५ और १६९९ में माने जाते हैं। ये गोस्वामी तुलसीदास के शिष्य थे।

भक्तों की जीवनियों का सूत्रपात कदाचित् **श्रीगोकुलनाथ** (वल्लभाचार्य के पौत्र और विट्ठलनाथ के सुपुत्र) ने ८४ और २५२ वैष्णवों की वार्ताओं से किया। ये दोनों ग्रंथ व्रजभाषा-गद्य में ही हैं। इन्हीं को देखादेखी नाभादास ने अपना **"भक्तमाल"** (जिसमें ३१६ छप्पयों में २०० भक्तों की सूक्ष्म जीवनियाँ हैं) छंदों में लिखा। इसे देखकर फिर संग्रह-ग्रंथों का भी कार्य होने लगा।

स्फुट भक्त-कवियों में से विशेष उल्लेखनीय कवि हैं:—**लाल-दास**, जिन्होंने सं० १५८० में हरिचरित्र और १५७७ में भागवत-दशमस्कंध भाषा नामक ग्रंथ अवधी भाषा तथा दोहा-चौपाई-शैली में रचे।

नरोत्तमदास—ये ग्राम बाडी (ज़ि० सीतापुर) के निवासी थे, और इन्होंने प्रसिद्ध "सुदामाचरित्र" नामक चरि-त्रात्मक खंड-काव्य कवित्त-सवैयों में लिखा। इसमें श्रीकृष्ण की कृपा-पूर्ण मैत्री, उदारता (दानशीलता) तथा सुदामा की दीनता का वर्णन बहुत ही रोचक और भावपूर्ण है। इन्होंने "ध्रुवचरित्र" भी

इसी प्रकार लिखा था परन्तु वह अब अप्राप्त है। आपकी रचना प्रौढ़, सरस, भावपूर्ण और सुन्दर है, भाषा सुव्यवस्थित, परिपक्व, ललित और प्रसादपूर्ण है।

बनारसीदास—(जन्म सं० १६४३) इन्होंने अपनी जीवनी पर "अर्ध कथानक" नामक एक ६७३ दोहों-चौपाइयों में बड़ा ग्रंथ लिखा। इसके अतिरिक्त और भी कई पुस्तकें लिखीं जो साधारण श्रेणी की हैं।

इनके अतिरिक्त और भी कतिपय भक्त-कवि प्रत्येक संप्रदाय में या उनसे अलग भी हुए, किन्तु वे यहाँ उल्लेखनीय नहीं।

इस समय के अन्य कवियों में से विशेष उल्लेखनीय वे कवि हैं जो अकबरी दरबार या अन्य राज-दरबार में सम्मानित हुए हैं। इनमें भक्ति तो नहीं पाई जाती वरन् काव्य-कला की ही प्रधानता मिलती है, यह दरबार तथा वहाँ की कला-प्रियता का ही प्रभाव विशेष है।

अकबरी-दरबार

यह लिखा जा चुका है कि अकबर हिन्दुओं का सहयोग (जिस पर ही उसका साम्राज्य आधारित रह कर सुदृढ़ हो सकता था) प्राप्त करने के लिए हिन्दुओं की संस्कृति, सभ्यता, भाषा, साहित्य एवं कला आदि को अपना रहा था। उसने हिन्दी-कवियों को भी अपने यहाँ आश्रय दिया और हिन्दी तथा उसके साहित्य के प्रति अनुराग दिखलाते हुए दोनों को प्रोत्साहित भी किया। कला-प्रेमी होकर उसने कला के विकास में भी अच्छा

अनुराग दिखलाया। उसकी देखादेखी अन्य नवाबों एवं राजाओं के यहाँ भी हिन्दी और उसके साहित्य को प्रोत्साहन मिलने लगा। अकबर-दरबार के उल्लेखनीय कवियों का सूक्ष्म परिचय यहाँ दिया जाता है :—

रहीम बैरमख़ाँ के लड़के थे। इनका जन्म सं० १६१० में हुआ। अकबर के ये दरबारी और सरदार थे। अरबी और फ़ारसी के ये पूर्ण पंडित थे। इन भाषाओं में इन्होंने **एक दीवान** और **वाक़यात-बाबरी** लिखे। ये बड़े उदार, दानी और परोपकारी होते हुए सहृदय और भावुक भी थे। कवियों और विद्वानों का बड़ा आदर करते थे। जहाँगीर ने इन्हें क़ैद कर दिया और इनकी जागीर ज़ब्त कर ली थी।

रहीम का काव्य—रहीम हिन्दी और संस्कृत से भी परिचित थे और दोनों भाषाओं में सुन्दर रचना करते थे। रहीम ने व्रज भाषा और अवधी दोनों में अच्छी रचना की है। बरवा लिखने में तो इन्होंने अवधी (क्योंकि अवधी में ही यह विशेष सफलता से लिखा जाता है—व्रज-भाषा में नहीं) और अन्य प्रकार की रचना में व्रज-भाषा का उपयोग किया है। रहीम को सूक्ति-कार कवियों में अच्छा स्थान दिया जाता है; नीति-विषयक काव्य इन्होंने सुन्दर और मार्के का लिखा है। उसमें सांसारिक अनुभव खूब पाया जाता है। भाषा इनकी सुव्यवस्थित, सरल और शुद्ध है। मुहावरेदार होने से इनके बहुत से दोहे लोकोक्तियों के रूप में भी प्रचलित हो गये हैं।

इनके ग्रंथ—दोहा-शैली से रहीम ने नीत्यात्मक सतसई लिखी है और इस प्रकार कदाचित् तुलसीदासजी का अनुकरण किया है। दोहा-शैली के समान सोरठा-शैली में भी इन्होंने शृङ्गार-सोरठ की रचना की। इनके अतिरिक्त **मदनाष्टक, नगर-शोभा** और कवित्त-सवैयों में भी इनकी स्फुट-रचना भी पाई जाती है। 'रहिमन-विनोद' आदि इनकी रचनाओं के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी मृत्यु सं० १६१२ में हुई।

नोट :—यद्यपि रहीम की रचना मौजूद है तथापि हमें उसके रहीम-कृत होने में सन्देह है। सम्भवतः कवियों ने इनके नाम से ये रचनाएँ की थीं और इनसे वे .खूब पुरस्कृत हुए थे। एक विदेशीय भाषा, उसकी काव्य-परम्परा एवं संस्कृति आदि में इतनी पटुता प्राप्त करके ऐसी उच्च कोटि की रचना करना एक विदेशीय के लिए सम्भव नहीं जान पड़ता। अन्य प्राचीन मुसलमान सत्कवियों के विषय में भी हमें इसी प्रकार सन्देह हो सकता है—या तो वे किसी प्रकार हिन्दू से मुसलमान हो गये थे (यथा आलम) या वे अच्छे कवि ही न थे। अस्तु यह विषय विचारणीय है।

गंग-कवि—इनकी जीवनी का ठीक पता नहीं। कहते हैं कि ये ब्रह्म भट्ट और अकबर के दरबार में सम्मान-प्राप्त कुशल कवि थे। रहीम से इनकी बड़ी दोस्ती थी। किसी राना या वानब की आज्ञा से ये हाथी के द्वारा मरवा डाले गये थे।

इनकी रचना—ये विविध प्रकार की भाषा में सुन्दर रचना करते थे। कवियों में इनका स्थान ऊँचा माना गया है। दास ने लिखा है:—

"तुलसी, गंग दोऊ भये, सुकवियन में सरदार।
जिनकी कविता में मिली, भाषा विविध प्रकार" ॥

इनकी रचना सरस, व्यङ्ग-वलित और वाक्-वैचित्र्य-पूर्ण है। अन्योक्तियाँ चोखी और अनोखी हैं। विप्रलम्भ शृङ्गार का अतिशयोक्तिपूर्ण वस्तु व्यङ्ग की ऊहात्मक पद्धति से विशद वर्णन इन्होंने किया है। तत्कालीन समस्त शैलियाँ इनकी रचना में पाई जाती हैं।

इनके अतिरिक्त अकबरी-दरबार में और भी कतिपय कवि रहते तथा आते-जाते थे, किन्तु वे यहाँ विशेष उल्लेखनीय नहीं।

अन्य राज-दरबार—अकबरी राज-दरबार के समान अन्य राज-दरबारों में भी हिन्दी-काव्य और कवियों का आदर-सत्कार होता था। कवि लोग वहाँ रहते और आते-जाते रहते थे। इसका सबसे गहरा प्रभाव भाषा पर पड़ा। भिन्न भिन्न प्रान्तों के कवियों के सम्मेलन तथा पारस्परिक भाव-भाषा के आदान-प्रदान से भाषा और काव्य में विशदता, उदारता तथा अन्य भाषाओं के भावों एवं पदों आदि को लेकर पचाने की शक्ति बढ़ चली। हाँ प्राधान्य व्रजभाषा का ही रहा। दूसरा प्रभाव यह रहा कि राजा एवं बड़े लोग भी साहित्यिक क्षेत्र में आकर रचना-कार्य्य करने लगे—यही कारण था कि इन लोगों को काव्य-रचना सिख-

लाने के लिए काव्य-शास्त्र के रीति-ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी और वे रचे जाने लगे। इसके साथ ही रानियों और बड़े घरों की महिलाओं ने भी रचना-कार्य विशेषरूप से प्रारम्भ कर दिया।

बीकानेर, जयपुर, ओरछा, ग्वालियर, रीवाँ, और नरवर-गढ़ आदि राज्य विशेष उल्लेखनीय हैं। राजाओं में से जो विशेष उल्लेखनीय हैं, ये हैं:—

महाराज पृथ्वीराज—इनका कविता-काल सं० १६१७ के आस-पास माना गया है। आप बड़े ही सहृदय-देशभक्त और विद्या-व्यसनी थे। आपकी तीन पुस्तकें प्राप्त हैं, आप बीका-नेर-नरेश थे।

राजा इन्द्रजीतसिंह—इन्हीं के यहाँ आचार्य्य केशव और प्रवीण राय थे, ये भी साधारण रचना करते थे। इनका जन्म-संवत् १६३७ में और रचना-काल १६५५ में माना गया है।

इनके अतिरिक्त महाराज उदयसिंह (मारवाड़-नरेश), जय-पुर-नरेश मानसिंह, कोटा-नरेश मुकुन्दसिंह भी उल्लेखनीय हैं।

मुसलमान-कवि—मुसलमान लोग भी अब हिन्दी की ओर विशेष ध्यान दे रहे थे। कुछ समय पूर्व से ही इन लोगों ने हिन्दी में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु वे लोग प्राय: सूफी-फ़क़ीर ही होते थे। अब रहीम को देखकर दरबारी मुसल-मान भी रचना-क्षेत्र में आगये—ऐसे मुसलमान कवियों में से वशेष उल्लेखनीय हैं:—

मुबारक—मुबारक (बिलग्रामी)—जन्म-सं० १६४०, अरबी फ़ारसी के पंडित और हिन्दी से परिचित थे। इनकी दो पुस्तकें **तिलक-शतक** और **अलक-शतक** प्राप्त होती हैं। इनके स्फुट कवित्त और सवैया भी कुछ संग्रह-ग्रन्थों में मिलते हैं। सुन्दर उत्प्रेक्षाओं से सौ दोहों में इन्होंने आंगिक-सौन्दर्य्य भी अच्छा लिखा है, फ़ारसी-शैली की अत्युक्ति भी इनमें मिलती है। रूपक आदि से इन्होंने अपनी रचना को अच्छा चित्रोपम बनाया है।

इनके अतिरिक्त क़ासिमशाह, फ़ाज़िलशाह, फहीम (शेख़ अबुलफ़ज़ल के छोटे भाई) आदिल शाह आदि भी साधारण कोटि के कवि हुए है।

स्त्री-लेखिकायें—हिन्दी के प्रथम काल में (जय-काव्य-काल) समय, समाज की अशान्तिपूर्ण परिस्थितियों के प्रभाव से स्त्रियों ने साहित्यिक कार्य करने का अवसर न पाया था। भक्ति-काल में उन्हें यह अवसर मिला। स्त्रियों में धार्मिक विश्वास की अधिकता से भक्ति और प्रेम की मात्रा अधिक पाई जाती है—उनका हृदय पुरुषों की अपेक्षा अधिक सरस और कोमल होता है। भक्ति-काव्य के लिए इसी की बड़ी आवश्यकता है। कृष्ण-काव्य की संगीतात्मक-पद-शैली ने कृष्ण-भक्ति और उसके काव्य का प्रचार देश के घर घर में कर दिया था जिससे स्त्रियाँ भी प्रभावित होकर कृष्ण-काव्य की ओर झुक गई थीं।

दरबारों के कवि-सम्मेलनों ने भी राज-घरों एवं बड़े घरानों की स्त्रियों को काव्य-रचना के क्षेत्र में बढ़ने के लिए प्रोत्साहन

दिया। तीर्थ-यात्राओं से भी स्त्रियों में कृष्ण-काव्य का गहरा प्रभाव पड़ा, यही कारण है कि स्त्रियों के द्वारा भी कृष्ण-काव्य ही विशेष रूप में लिखा गया। शान्त-रसपूर्ण भक्ति और प्रेम ही उनकी प्रकृति के अनुकूल है, शृङ्गार, वीर और बीभत्सादि उनके लिए स्वाभाविक नहीं। हास्य और करुण से उनका सम्बन्ध है अवश्य किन्तु शान्त-रस की अपेक्षा इनका प्रभाव उन पर कम पड़ता है। माधुर्य्य, मार्दव आदि गुणों के कारण व्रज-भाषा इनके लिए विशेष उपयुक्त ठहरती है और इसी लिए इसे इन्होंने अपनाया भी खूब है।

संगीत का प्रभाव यों तो सभी पर पड़ता है किन्तु विशेष रूप से पड़ता है स्त्रियों पर ही—इसी लिए स्त्रियों ने कृष्ण-काव्य की पद-शैली को विशेष अपनाया है। यह भी कहा जा सकता है कि छन्दः-शास्त्र या पिङ्गल से परिचित होना उस समय स्त्रियों के लिए असाध्य-सा था, इसी लिए साहित्यिक छन्दों में उन्होंने रचना नहीं की। आगे चल कर ऐसी स्त्रियों ने जिनका सम्पर्क किसी रूप में कला-कुशल कवि-समाज या पंडितों से था, साधारण, सरल और छोटे-छन्दों में रचनायें की हैं। ज्यों ज्यों स्त्रियों में ज्ञान-वृद्धि होती गई है और ज्यों ज्यों पुरुष-कवियों के द्वारा रचना-शैलियों में परिवर्तन होता गया है त्यों ही त्यों स्त्रियाँ भी विविध-छन्दात्मक साहित्यिक रचनाओं के क्षेत्र में आगे बढ़ती गई हैं।

प्राचीन समय में रानियों तथा बड़े घरों की स्त्रियों ने ही विशेष कार्य किया, अस्तु हम यहाँ कुछ विशेष उल्लेखनीय देवियों का ही सूक्ष्म परिचय देते हैं:—

इस काल में हितजी की **गंगा** और **यमुना** नामक दो चेलियों ने पद-शैली से कुछ रचना की। रानियों में जयपुर की महारानी **सोन कुँवरि** का नाम उल्लेखनीय है। विशेष उल्लेखनीय नाम है **प्रवीणराय** का, जो ओरछा-नरेश के यहाँ वेश्या थी। आचार्य्य केशवदास ने कविप्रिया इसी के लिए बनाई थी। इसका चरित्र शुद्ध, हृदय सरस और बुद्धि तीव्र थी।

मुसलमान स्त्रियों में से **ताज** का नाम उल्लेखनीय है। इसने कृष्ण-काव्य की साधारण रचना की है। भाषा में उर्दू, जो इसके लिए स्वाभाविक थी, झलकती है। इनके अतिरिक्त कल्माषी देवी, रानी राधरी, केशव-पुत्र-वधू और नवलादेवी के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

स्फुट-रचनायें—यह लिखा जा चुका है कि किसी परिपाटी का नितान्त लोप नहीं होता, वह नवीन परिपाटियों के साथ न्यूनाधिक रूपान्तर से चलती ही रहती है। इस विचार से यहाँ रासो आदि प्राचीन-काव्य का भी सूक्ष्म उल्लेख किया जाता है।

रासो-रचना—भक्ति-काल में रचे गये रासो में से विशेष उल्लेखनीय हैं:—ब्रह्मराय-कृत श्रीपाल-रासो (सं० १३३०), और विजयदेव सूर-कृत शीलरासो (सं० १६५७) ही।

गद्य-रचना—इस काल में व्रजभाषा के गद्य का भी श्रीगणेश होता है। **विट्ठलनाथ** ने राधाकृष्ण-विहारात्मक ५२ पृष्ठ का शृङ्गार-रस-मंडन और उनके सुपुत्र **गोकुलनाथ** ने ८४ और २५२ वैष्णवों की वार्ताएँ लिखकर व्रजभाषा-गद्य की ओर भी लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। महात्मा गोरखनाथ ने भी ऐसा ही किया था। **नन्ददास** ने नासकेत पुराण का व्रजभाषा में अनुवाद किया था।

अकबरी-दरबार में भी गद्य-शैली उठी और **गंग भट्ट** ने सं० १६२७ में खड़ी बोली की पुट देते हुए 'चन्द' छन्द वर्णन की महिमा तथा **जटमल** 'ने' गोरा और बादल की कथा खड़ी बोली को प्रधानता देते हुए सं० १६८० में लिखी। इसमें कारक आदि के रूप तो खड़ी बोली से और क्रियाओं के व्रजभाषा से प्रभावित हैं।

रीति-ग्रन्थ—यह कहा जा चुका है कि दरबारों में हिन्दी-काव्य और हिन्दी-कवियों का सम्मान हो चला था, जिससे लोग हिन्दी में कविता लिखने की ओर प्रयत्नशील होने लगे थे। राजाओं ने भी यह कार्य प्रारम्भ कर दिया। भाषा भी परिपक्क होती हुई कला-पूर्ण काव्य के उपयुक्त हो चुकी थी। समय और समाज की रुचि भी इसी लिए काव्य-कला की ओर झुक गई थी, अतएव काव्य-शास्त्र एवं तत्सम्बन्धी रीति-ग्रन्थों की रचना अनिवार्य्य हुई। इस रचना का श्रीगणेश यद्यपि हिन्दी-साहित्य के जन्म-काल में ही **पुष्य** कवि के द्वारा किया गया था किन्तु देश-काल की अभिरुचि और तत्प्रभावजन्य रचना-प्रगति ने रीति-ग्रंथों

की परम्परा को सर्वथा दबा दिया। भक्ति-काल के अवसान में अलङ्कार के विषय पर कई कवियों ने छोटी छोटी पुस्तकें लिखीं जिनमें से **गोप**-कृत रामालंकार, **करनेस बन्दीजन**-कृत करुणा-भरण और **गोपा**-कृत अलङ्कार-चन्द्रिका उल्लेखनीय हैं। खेद है कि ये पुस्तकें अब अप्राप्य हैं। हाँ **कृपाराम**-कृत हित-तरंगिणी (सं० १५९८) दोहों में लिखी रस-रीति की पुस्तक प्राप्त तथा अवलोकनीय है। संस्कृत के रीति-ग्रन्थों की अनुष्टुप-शैली के अनुकरण से दोहों में रीति-ग्रंथों का लिखना चला है और यह परिपाटी बराबर चलती रही है।

अन्य विषयक रचनायें—इस समय का रचा हुआ कोई पिङ्गल-ग्रंथ प्राप्त नहीं होता, यद्यपि यह समय ऐसा था कि इस समय भिन्न भिन्न विषयक रचनाओं की ओर लोगों की रुचि बढ़ रही थी। नीति और नाटकादि विषयों की भी रचनाएँ हुई हैं।

इस समय के नाटकों में से **कृष्ण जीवन**-कृत करुणाभरण (सं० १६५७), और **प्राणचन्द्र**-कृत रामायण महानाटक (सं० १६६५) उल्लेखनीय हैं।

उपसंहार—हिन्दी और उसके साहित्य का ज्यों ज्यों विकास हुआ है त्यों ही त्यों संस्कृत के प्रचार में शिथिलता आती गई है। यह अवश्य है कि काशी ऐसे केन्द्रों की विद्वन्मण्डली में संस्कृत और उसके साहित्य का प्राधान्य और प्राबल्य रहा है। राज-दरबारों में भी इसे हिन्दी की अपेक्षा विशेष ऊँचा स्थान दिया

जाता था। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य संस्कृत पर ही आधारित है। इस काल में अब तक संस्कृत में रचना-कार्य होता जा रहा था।

मुसलमानों के सम्पर्क से अथवा उनके हाथ में पड़कर फ़ारसी से प्रभावित होते हुए हिन्दी ने एक विशेष रूप धारण करना प्रारम्भ कर दिया। मुसलमानों ने इसे अपने ढंग से विकसित करके साहित्यिक रूप दिया और इसमें रचना करने लगे, यही उर्दू नाम से एक स्वतंत्र-भाषा हो गई। इसी के साथ व्रजभाषा और पंजाबी से प्रभावित होते हुए कुछ उर्दू के साँचे में ढल कर सभ्य हिन्दू-समाज की हिन्दी (पश्चिमीय नागरी) खड़ी बोली के रूप में चल निकली, जिसे साहित्य के क्षेत्र में बहुत दिनों तक स्थान न मिल सका क्योंकि इधर व्रजभाषा थी और उधर दिल्ली और आगरे से प्रारम्भ होकर दक्षिणीय हैदराबाद में उन्नति करके आने-वाली उर्दू फैल रही थी।

अभ्यास

१—व्रज में कृष्ण-काव्य का विकास किस प्रकार हुआ, और व्रज-भाषा को कैसे प्रधानता प्राप्त हुई।

२—अष्टछाप से तुम क्या मतलब समझते हो। इसके सर्वोत्तम दो कवियों की सूक्ष्म-आलोचना करो।

३—परिचय दो:—

(अ) रसखान (ब) हित हरिवंश (स) कृपाराम और (द) नरोत्तमदास।

४—अकबरी दरबार के विषय में तुमको यहाँ क्या बतलाया गया है। उस दरबार में जो मुख्य कवि और लेखक थे उनकी सूक्ष्म आलोचना करो।

५—भक्ति-काल के अवसान पर किन नवीन रचना-शैलियों का उदय हुआ—उन पर स्पष्टरूप से प्रकाश डालो।

६—स्त्री-समाज ने इस काल में कैसा कार्य किया और क्यों? सतर्क लिखो।

७—नाटक और गद्य-रचनाओं का यहाँ क्या उल्लेख किया गया है?

८—उर्दू और खड़ी बोली के विषय में तुमने यहाँ क्या पढ़ा है?

प्रश्न-पत्र नं०—१

१—कृष्ण-काव्य के विकास पर पूर्ण रूप से प्रकाश डालो।

२—तुलसीदास की रचना-शैली और भाषा की सतर्क आलोचना करो।

३—व्रजभाषा क्यों और किस प्रकार विकसित हुई, उसे काव्य-साहित्य में क्यों प्रधान स्थान मिला?

४—भक्ति-काव्य का प्रभाव कैसा पड़ा और कृष्ण-भक्ति का व्रज में कैसा रूपान्तर हुआ?

५—किन नवीन-शैलियों का उदय भक्ति-काल में हुआ और क्यों?

६—कला-काल के प्रारम्भ के मुख्य कारण क्या थे? सतर्क लिखो।

तृतीय अध्याय

कला-काल

(समय—१७००—१९०० तक)

परिचय—कला-काल से यहाँ तात्पर्य उस काल से है जिसमें हिन्दी-क्षेत्र में काव्य को कलापूर्ण किया गया अर्थात् उसमें काव्य के चमत्कृत रूप एवं चातुर्यपूर्ण गुणों को ध्यान में रख कर रचनायें की गईं और साथ ही काव्य की कला के नियमोपनियमों से सम्बन्ध रखनेवाले रीति या लक्षण-ग्रंथों की रचना हुई। अलंकार, रस-भावादि विषयक छोटे-बड़े ग्रंथ रचे गये और इसी प्रकार कुछ छंद-रचना-सम्बन्धी पिंगल की पुस्तकें भी बनाई गईं। ध्यान रखना चाहिए कि इन सब ग्रंथों या पुस्तकों का आधार संस्कृत-काव्य-शास्त्र ही रहा, उसी के ग्रंथों से सहायता लेकर या उसकी ही पुस्तकों का अनुवाद सा करके हिन्दी के कवियों ने हिन्दी में लक्षण-ग्रंथों की सृष्टि रची और एक परम्परा या परिपाटी सी इस प्रकार के ग्रंथों की रचना की चला दी।

स्थूल रूप से कह सकते हैं कि यह काल सं० १७०० से सं० १९०० तक रहा। यद्यपि इसका प्रारम्भ, जैसा लिखा जा चुका है, हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ-काल में ही हुआ है, उस

समय पुंड ने, जो सबसे प्रथम हिन्दी-कवि कहा जाता है, हिन्दी-दोहों में संस्कृत के एक अलंकार-ग्रंथ का अनुवाद किया था, उसके पश्चात् दो-एक कवियों ने और भी ऐसा ही कार्य किया, किन्तु वे ग्रंथ अब हमें उपलब्ध नहीं। अस्तु, कुछ भी निश्चित रूप से इस पर यहाँ नहीं कहा जा सकता।

माध्यमिक या धार्मिक काव्य-काल के अवसान में, हम लिख चुके हैं, दो चार कवियों (गोप, गोपा, करनेस आदि) ने कुछ अलंकार-ग्रंथ रचे किन्तु वे भी अप्राप्य से हैं। इस काल में **कृपाराम** द्वारा (सं० १५९८) लिखित "**हिततरङ्गिणी**" नामक एक पुस्तक मिलती है, जिसमें दोहों में रस-रीति का निरूपण किया गया है। किन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो कला-काल और उसकी रीति-ग्रंथ-रचना की परम्परा का प्रारम्भ यथार्थ रूप से **महाकवि केशवदास** के ही समय से होता है, हाँ रीति-ग्रंथों की अविरल धारा का प्रारम्भ उनके लगभग ५० वर्षों के बाद **पं० चिन्तामणि त्रिपाठी** के ही समय से माना जा सकता है। अस्तु हम प्रथम इसके प्रारम्भिक रूप को दिखला कर इसके विकसित रूप का विवेचन करना उचित समझते हैं। हाँ इन सबके पूर्व हम यहाँ प्रथम राजनैतिक, धार्मिक आदि दशाओं का सूक्ष्म परिचय भी देकर अपने विषय को सुबोध भी बना देना चाहते हैं।

राजनैतिक दशा—इस काल में हिन्दी-भाषी देश की दशा शान्तिमय ही सी रही, कोई विशेष राजनैतिक गड़बड़ी नहीं हुई। **अँगरेज़ और अन्य पाश्चात्य देशीय यहाँ आये, और व्यापार करने**

लगे, किन्तु उन लोगों के केन्द्र कलकत्ता, बाम्बे, मद्रास आदि में थे, जो हमारे हिन्दी-प्रान्त से बहुत दूर हैं, अस्तु इन लोगों का प्रभाव इस समय हिन्दी-जनता पर कुछ भी न पड़ा।

औरंगज़ेब के समय में कुछ गड़बड़ी फैली, उसके दुर्व्यवहारों से हिन्दू-जनता त्रस्त हुई, जिससे पंजाब में सिक्ख और दक्षिण में मरहठे लोग उठ चले, और कुछ लड़ाइयाँ भी हो चलीं, फलतः कुछ वीरकाव्य भी उठा, किन्तु ये सब गड़बड़ियाँ अल्पकालीन ही रहीं तथा ऐसी न हुईं कि हिन्दी-क्षेत्र पर अपना कुछ विशेष प्रभाव डाल सकतीं। जनता चूँकि राजनैतिक बातों से प्रथम ही से बहुत दूर रहती थी इससे उस पर उसका कुछ विशेष प्रभाव भी न पड़ता था। औरंगज़ेब हिन्दी और हिन्दुओं से कुछ विद्वेष सा रखता था, अस्तु अकबर के समान उसके दरबार में हिन्दी-काव्य-साहित्य की चर्चा न थी, हिन्दी के कवि भी बहुत कम, यदि बिलकुल ही नहीं, आते-जाते थे। हाँ अन्य राज-दरबारों में वे विशेष रूप से आते-जाते या रहते थे। राज-दरबारों में कवियों के सम्मान प्राप्त करने के कारण लोगों में काव्य-कला के सीखने का उत्साह उत्पन्न हो गया था। इसी उत्साह ने काव्य-कला-सम्बन्धी रीति-ग्रंथों की परम्परा को प्रबलता के साथ प्रगतिशील किया है।

धार्मिक दशा—धार्मिक भक्ति-काव्य से हिन्दू-धर्म की महत्ता और सत्ता सुदृढ़ रूप से चिरकाल के लिए स्थापित हो गई थी और यहाँ तक उसे प्रबलता मिल गई थी कि औरंगज़ेब की कुटिल

कट्टरता भी उसको क्षति न पहुँचा सकी। मुसलमानों ने यद्यपि पीर, गाज़ी आदि की पूजा का विधान चला दिया था और उसका कुछ प्रभाव हिन्दुओं पर भी पड़ रहा था किन्तु केवल अपठित और निम्न-श्रेणी के ही मनुष्यों पर। भक्ति-काल में प्रचलित होनेवाली हनुमान् आदि विविध देवोपासन-पद्धति ने इसे न बढ़ने दिया।

धार्मिक काल में प्रकट होनेवाले भिन्न भिन्न सम्प्रदाय और पन्थ अब भी चल रहे थे जिनमें व्यक्तित्व की ही विशेष प्रधानता थी। साधारण जनता भक्ति-भाव के रस-स्रोत में ही निमग्न थी, पंडित-मंडली में दार्शनिक ज्ञानात्मक मत या धर्म प्रधानता रखता था।

विचार-धारा—भक्ति-काल की प्रायः सभी भावनाएँ इस काल में भी प्रगतिशील रहीं और कुछ का तो साधारणतया न्यूनाधिक रूप से विकास भी हुआ। शृंगार रसात्मक भक्ति-काव्य ने समाज को शृंगाररस की ओर विशेष झुका दिया था। कृष्ण की लौकिक लीलाओं के सरस वर्णन से शृंगारात्मक काव्य में लौकिकतामयी वैषयिकता की विशेष पुट आ गई थी और इसी लिए नायक-नायिका-भेद और शृंगार, आलम्बन और उद्दीपन विभाव-सम्बन्धी ऋतु-वर्णन की परिपाटी भी बढ़ रही थी। दरबारों की विलास-प्रियता से शृंगार-रस कुछ अश्लीलता की ओर भी झुकने लगा था जिससे चारित्रिक पवित्रता को कुछ क्षति पहुँचने लगी थी।

फ़ारसी भाषा, जो राज-भाषा थी और जिसकी शिक्षा टोडर-मल के समय से आवश्यक कर दी गई थी, हिन्दू-जनता को प्रभावित कर रही थी। यद्यपि अब उसमें विशेष शक्ति मुग़ल-राज्य के शैथिल्य के कारण न रह गई थी फिर भी उसके साहित्य का प्रभाव पठित समाज पर ख़ूब पड़ा था और उच्च श्रेणी का सभ्य समाज उसकी ओर विशेष झुक रहा था। अस्तु उसकी ओर से हिन्दू-जनता की रुचि को हटाकर मातृभाषा हिन्दी और उसके साहित्य की ओर झुकाने के लिए अब काव्य-कला को विकासित और प्रकाशित करने की अनिवार्य आवश्यकता हुई।

संस्कृत की दशा भी औरङ्गज़ेब के समय से क्षीण हो चली थी और वह बढ़ती हुई हिन्दी और फ़ारसी (फ़ारसी-प्रभावित उर्दू जो अब स्वतंत्र भाषा होकर अपना पृथक् साहित्य बनाती हुई हिन्दू-कवियों को भी शायर बना कर अपनी ओर खींच रही थी) के सामने मृत-प्राय सी हो रही थी। अस्तु उसके साहित्यागार से बचे हुए रत्नों को लेकर हिन्दी-साहित्य में रक्षित कर रखना आवश्यक हुआ। ऐसा करने से संस्कृत का महत्त्व लोगों की स्मृति में बना रहा और हिन्दी का सुन्दर साहित्य-सद्म सज भी गया।

इसी समय से काव्य-रचना के सीखने की एक व्यवस्थित पद्धति सी चल पड़ी और उर्दू की गुरु-शिष्य-परम्परा के समान बहुत समय तक चलती रही। केशव और मतिराम जैसे काव्याचार्यों के पास शिष्यों का काव्य-कला सीखना इसका प्रमाण है। इस व्यवस्था ने भी रीति-ग्रन्थों की परम्परा को पर्याप्त प्रबलता

दी। भक्ति-काल में चूँकि काव्य-रचना विरक्त भक्तों के हाथ से ही होती रही इसलिए गुरु-शिष्य-सम्बन्धी ऐसी परम्परा न चल सकी। उनमें गुरु-शिष्य-परम्परा थी तो किन्तु वह भक्ति या सम्प्रदाय-सम्बन्धिनी थी। भक्त लोग कवि तो थे किन्तु आचार्य न थे और न वे गुरुवत् अपने शिष्यों को काव्य-कला की शिक्षा देकर अपने आनन्द में बाधा ही डालना चाहते थे। अस्तु काव्य-कला का शिक्षण-कार्य इसी समय के लिए पड़ा रहा।

इस समय के कुछ प्रधान आचार्यों ने कतिपय नवीन छन्दों का विकास तो किया किन्तु कवि-कार्य में लगे रहने के कारण कदाचित् वे छन्दः-शास्त्र के रीति-ग्रन्थों की रचना का कार्य्य विशेषरूप से न कर सके। कवित्त आदि कुछ ही वर्णिक छन्दों को छोड़ कर हिन्दी में प्रायः मात्रिक छन्दों का ही विशेष प्रचार रहा।

गोस्वामी तुलसीदास के पश्चात् राम-काव्य की रचना का कार्य बहुत ही शिथिल हो गया था। उनकी रामायण इतनी सर्वाङ्गपूर्ण और रुचिकर बनी कि फिर दूसरे कवि को रामकाव्य के लिखने का साहस ही न हुआ। **आचार्य केशव** ने ही केवल **रामचन्द्रिका** लिख कर रामकाव्य की पवित्र रचना को काव्य-कला से सुसज्जित करके आगे चलाने का उद्योग किया किन्तु काव्य-कलापूर्ण रचना को प्रचलित करने में ही वे विशेष सफल हो सके और राम-काव्य की रचना को प्रचलित करने में नहीं।

अब शृङ्गार-काव्य के दो मुख्य मार्ग हो गये थे, प्रथम तो वह जिसके आधार में राधा और कृष्ण रहते थे और जिसमें

कवि इन्हें नायक और नायिका मान कर अपने प्रेमोद्वेग-जन्य हार्दिक भावों को प्रकाशित करते हुए लौकिक विषय-वासनापूर्ण शृङ्गार को प्रधानता देते थे। दूसरा मार्ग यह था कि कवि एक कल्पित नायक और नायिका को लेकर भोग-विलास-सम्बन्धी लौकिक प्रेम-लीलाओं की भाव-भावनाओं को व्यक्त करता है। इसमें कहीं कहीं अश्लीलता भी आ जाती है। इन दोनों के साथ एक मार्ग यह भी चल पड़ा जिसमें शृङ्गार के आलम्बन को न लेकर उद्दीपन विभाव को ही काव्य-रचना के आधार के रूप में लिया जाता है और शृङ्गार-रसोद्दीपक पदार्थों, समयों और दशाओं आदि का सुन्दर भाषा में कल्पना-कौतुक और काव्य-कौशल के साथ चित्रण किया जाता है और यह भी ध्यान में रक्खा जाता है कि इस प्रकार से रचे हुए मुक्तक काव्य का उपयोग काव्य-शास्त्र के रीति-ग्रन्थों में भी उदाहरण के रूप किया जा सके।

रचना-केन्द्र—काव्य-रचना की ओर अब सुपठित सभ्य लोग भी आकृष्ट हो चले थे। राज-दरबारों में भी इसका प्रवेश हो गया था। भक्त कवियों के ही समाज में अब यह सीमित न रह गया था। अस्तु अब रचना के केन्द्र राज-दरबारों तथा पंडितों के यहाँ हो गये थे। चूँकि पश्चिमीय प्रान्त में राज्य विशेष थे इसलिए रचना-कार्य वहीं विशेष होता था। पूरब में लखनऊ आदि के नवाब उर्दू-साहित्य को ही विशेषता देते थे। बनारस में अब भी संस्कृत की ही प्रधानता और प्रचुरता थी।

व्यापकता—एक राज्य से दूसरे राज्य में कवियों के आने-जाने से हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य का विस्तार हो चला था और उनकी व्यापकता भी बढ़ने लगी थी। भिन्न भिन्न प्रान्तों की भाषाओं तथा संस्कृतियों से वे प्रभावित हो चले थे। कान्य-कुब्ज ब्राह्मणों के कारण बंगाल और महाराष्ट्र जैसे दूरस्थ प्रान्तों में भी हिन्दी और उसके साहित्य का प्रचार हो चला था* ।

रचना-शैलियाँ और भाषा

यह ज्ञात ही हो चुका होगा कि अब तक हिन्दी के तीन रूपों का विकास हो चुका था। एक ओर तो **अवधी भाषा** जायसी और तुलसी के द्वारा उठाई जाकर साहित्य-क्षेत्र में प्रचलित हो रही थी, दूसरी ओर ब्रज की **ब्रजभाषा** सूर और नन्ददास आदि के द्वारा परिष्कृत की जाकर साहित्य-क्षेत्र में एक सर्वमान्य और व्यापक काव्य-भाषा होकर फैल रही थी और यहाँ तक प्रधानता प्राप्त कर चुकी थी कि इसके सामने अवधी भाषा दब सी गई थी। एक दूसरी ओर पंजाब के पूर्वीय ज़िलों की बोली उठकर ब्रजभाषा के आधार पर दिल्ली और उसके आस-पास के स्थानों में मुसलमानों और उनके सम्पर्क में रहनेवाले हिन्दू नागरिकों के द्वारा हिन्दी की एक विशेष शाखा हो चलाई और

---

* डाक्टर सुनीतकुमार चटर्जी ने भी यही विचार अपने एक व्याख्यान में, जिसे उन्होंने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कलकत्तावाले वार्षिक अधिवेशन में दिया है, प्रकट किया है।

फैलाई जा रही थी। यही हैदराबाद में जाकर उर्दू के रूप में तैयार होकर एक स्वतन्त्र भाषा बन गई थी और फ़ारसी से पूर्ण-तया प्रभावित थी। इसी के साथ हिन्दी की एक दूसरी शाखा भी संस्कृत तथा उसके तद्भव एवं देशज रूपों से प्रभावित होकर **खड़ी-बोली** के रूप में उदित हो चली थी। इस काल में यद्यपि यह सब भाषाएँ थीं, किन्तु साहित्यिक काव्य-क्षेत्र में प्रधानता और व्यापकता प्राप्त थी व्रजभाषा को ही। हाँ मुसलमान लोग और कुछ हिन्दू भी, जो उनके सम्पर्क में विशेष रहते थे, उर्दू और उसके साहित्य की श्री-वृद्धि कर रहे थे। अन्य कवि-जन व्रज-भाषा में ही रचना करते थे। हाँ उसमें अपनी प्रान्तीयता की पुट अवश्य लगा देते थे।

भाषा का रूप—काव्य-भाषा होते हुए भी सर्वमान्य व्रज-भाषा पूर्णरूप से व्याकरणानुसार सुव्यवस्थित और नियम-नियन्त्रित होकर साहित्यिक एकरूपता के साथ निश्चित होकर स्थिर न हो सकी थी। विहारी, और घनानन्द जैसे कुछ कवियों ने इसे निश्चित रूप देने का प्रयत्न किया तो अवश्य था किन्तु, विशेष सफलता के साथ नहीं।

भाषा में प्रान्तीयता की पुट और बहुरूपता मौजूद थी। क्रियाओं के रूप निश्चित न थे, यथा दीन्ह, दीन्ह्यो, दीनों, दियो आदि। इस समय भाषा का कोई सुन्दर व्याकरण भी न तैयार किया गया था। कुछ आचार्यों ने संस्कृत से शब्दों को लेकर कुछ निश्चित नियमों के आधार पर उन्हें तद्भव और देशज रूपों में

रखने की व्यवस्था तो की थी, किन्तु उन नियमों के पुस्तकांकित न होने से दूसरे कविगण अन्ध अनुकरण करते हुए अनियमित रूप से शब्द गढ़ते और उन्हें तोड़-मरोड़ कर विकृत रूपों में प्रयुक्त करते रहे, जिससे शब्दों के रूप भी स्थिर न हो सके और भाषा की जटिलता, अस्थिरता और अस्पष्टता के दोष भी न हटे। वाक्य-विन्यास भी अनिश्चित और गड़बड़ हो रहा। भिन्न-भिन्न भाषाओं के सम्पर्क और सम्मेलन से भी भाषा में शुद्धता न रह पाई। भाषा-विकास के लिए यद्यपि यह अच्छा है और इससे भाषा विस्तृत और व्यापक होती भी है किन्तु उसकी शुद्ध साहित्यिक एकरूपता को धक्का भी इससे पहुँचता है। भाषा का विकास इसी लिए एक सर्वमान्य स्थिर विधान के आधार पर होना चाहिए और अन्य कवियों या लेखकों को उससे परिचित कराने के लिए उसका एक सुन्दर और निश्चित व्याकरण भी होना चाहिए।

कारण—भाषा के संस्कार के न होने का कारण इस समय प्रधानतया यही था कि यह काल साहित्य-रचना का काल था। आवश्यकता यह थी कि हिन्दी में अनियंत्रित और सदोष काव्य-रचना, जैसी कबीर आदि सन्तों के द्वारा की जा रही थी और जिससे हिन्दी-काव्य-साहित्य तथा उसके रचयिता विद्वानों की दृष्टि में गिर रहे थे, दूर की जाय।

इसके लिए काव्य-शास्त्र और पिंगल के रीति-ग्रन्थों की रचना करना और उनसे नवोदित तथा अग्रिम कवियों को परिचित कराके सत्काव्य की रचना के लिए तैयार करना अनिवार्य

ठहरा। इसी लिए प्रायः सभी कवि रीति-ग्रन्थों की ही रचना में लग गये और भाषा के सुधार-कार्य को आगे के लिए छोड़ बैठे। निष्कर्ष यह है कि इस काल में प्राधान्य तो रहा व्रज-भाषा का ही किन्तु उसमें भिन्न भिन्न प्रान्तों की बोलियों के प्रभाव से कई प्रकार के रूप-रूपान्तर हो गये। दरबारी कवियों के कारण इस पर फ़ारसी और उर्दू का भी गहरा प्रभाव पड़ा। रीति-ग्रन्थों की रचना विशेषतः अवध प्रान्त में ही हुई, अस्तु अवधी की ही पर्याप्त पुट उसमें लग गई।

रचना-शैलियाँ—इस काल में भक्ति-काल की प्रायः सभी रचना-शैलियों से काव्य-रचना होती रही तथापि प्रधानता रही मुक्तक काव्योचित **कवित्त-सवैयावाली शैली** की ही। इसका मुख्य कारण यही जान पड़ता है कि इस समय में शृंगार और वीर रसों के ही मुक्तक-काव्य का विशेष प्रचार हुआ। सवैया तो शृंगार के लिए और कवित्त शृंगार और वीर दोनों रसों के लिए बहुत उपयुक्त ठहरता है। प्रबन्ध-काव्य में शिथिलता आने के कारण **दोहा-चौपाईवाली शैली** भी शिथिल हो गई। वह मुक्तक काव्य और उसकी शैली के सामने न ठहर सकी। केशव ने **विविध छन्दात्मक शैली** का उपयोग प्रबन्ध-काव्य में करके नवीनता तो पैदा की, किन्तु कष्ट-साध्य होने के कारण इस शैली का प्रचार न हो सका। नीति-काव्य के क्षेत्र में **दोहात्मक सतसई-शैली** पहले तो ज्यों की त्यों ही रही फिर **गिरिधर कविराय** ने उसे **कुण्डलिया शैली** में रूपान्तरित कर दिया।

कृष्ण-काव्य की पद-शैली दब गई और उसके स्थान पर कवित्त-सवैयावाली शैली ही प्रचलित हो गई। राम-काव्य में भी इसी शैली का उपयोग किया गया। तुलसीदास ने ही कविता-वली के द्वारा इसका श्रीगणेश कर दिया था। रीति-ग्रन्थों में भी दोहा-शैली और कवित्त-सवैयावाली शैलियाँ प्रधान रहीं।

अभ्यास

१—कला-काल में राजनैतिक और धार्मिक दशाओं का क्या और कैसा उल्लेख यहाँ किया गया है ?

२—इस काल में भाषा की क्या दशा रही ? स्पष्टरूप से समझाओ।

३—जनता की रुचि और विचार-धारा के विषय में यहाँ क्या कहा गया है ? आलोचनात्मक ढंग से लिखो।

४—इस काल की प्रमुख रचना-शैलियों पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट रूप से अपने विचार प्रकट करो।

५—रीति-ग्रन्थों की ही रचना इस समय क्यों विशेष रूप से हुई ? सतर्क लिखो।

६—ब्रजभाषा को एकरूपता क्यों न प्राप्त हो सकी ? सप्रमाण और सतर्क लिखो।

७—देश की राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितियाँ कैसी रहीं, उनका क्या प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर पड़ा ?

८—राज-दरबारों में हिन्दी-साहित्य का कैसा प्रचार रहा, किन प्रमुख राजाओं ने कैसा रचना-कार्य किया ?

९—इस काल में भाषा की क्या दशा रही ? सतर्क लिखो।

रीति-ग्रन्थ और कवि

हिन्दी का यह सौभाग्य है कि उसके साहित्य-मन्दिर के लिए संस्कृत-साहित्य का सुदृढ़ और सच्चा आधार तथा उसकी सामग्री प्रथम ही से उपस्थित थी। हिन्दी के कलाकार कवियों और आचार्यों को उसी के द्वारा अपने साहित्य-मन्दिर का निर्माण करना था।

संस्कृत में काव्य-शास्त्र की रचना तर्कात्मक व्याख्या और विवेचना के साथ साङ्गोपाङ्ग रूप में की जा चुकी थी और संस्कृत की इस गिरी हुई दशा में भी उसके कुछ विद्वान् रचना-कार्य करते जा रहे थे, किन्तु अब उस बल-वेग के साथ नहीं।

हिन्दी-काव्य-शास्त्र के रीति-ग्रन्थों की रचना का उदय पुष्य या पुंड कवि से माना जा सकता है। उसके पश्चात् दो तीन आदमियों का और उल्लेख मिलता है किन्तु उनके ग्रन्थ अब नहीं प्राप्त होते जिससे उनके विषय में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता। समय और समाज की परिस्थितियों के प्रभाव से काव्य-शास्त्र की रचना का कार्य लगभग तीन या चार शताब्दियों तक स्थगित ही रहा, और भक्ति-काल के अवसान में ही फिर से प्रारम्भ हुआ।

रीति-ग्रन्थों का प्रारम्भ वास्तव में **आचार्य केशव** के समय से ही कहा जाना चाहिए क्योंकि उन्होंने ही कवि-प्रिया और रसिक-प्रिया नाम की दो पुस्तकें इस विषय पर सुन्दर रूप में लिखी हैं जो अब तक उपलब्ध हैं। कवि-प्रिया केशव मिश्र के अलंकार-शेखर पर आधारित है।

केशव के लगभग ५० वर्षों के उपरान्त से ही रीति-ग्रन्थों की परम्परा अविरल रूप से चलती है और लगभग दो शताब्दियों तक चली जाती है। समय के इस व्यवधान से केशव के द्वारा उठाई गई काव्य-शास्त्र की रचना-पद्धति अन्य रीति-ग्रन्थकारों की पद्धति से पृथक् हो गई है, क्योंकि इतने समय में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका था। इसलिए रीति-ग्रन्थों की परम्परा का प्रारम्भ **चिन्तामणि त्रिपाठी** से माना गया है यद्यपि ऐसा मानना युक्ति-संगत नहीं।

हिन्दी के क्षेत्र में संस्कृत की भाँति कवि और आचार्य दो श्रेणियाँ पृथक् पृथक् नहीं रहीं वरन् हिन्दी में कवि ही आचार्य और आचार्य ही कवि होते रहे और दोनों के भेद का अभाव सा ही रहा। प्रायः हिन्दी के कवि अपने रीति-ग्रन्थों में अपने काव्य-कौशल के दिखाने का ही मुख्य उद्देश्य रखते थे और काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की सूक्ष्म तथा तर्कात्मक विवेचनालोचना की ओर न जाते थे, क्योंकि प्रायः उनमें आचार्यत्व का अभाव सा रहता था। यही कारण है कि हिन्दी के रीति-ग्रन्थों में साङ्गोपाङ्ग तार्किक विवेचन के मौलिक रूप का अभाव है। भिन्न भिन्न सिद्धान्तों

का खंडन-मंडन भी नहीं है। गद्य की अविद्यमानता भी इसका एक कारण है। कवियों में आचार्यत्व के न होने के कारण उनके रीति-ग्रन्थ प्रायः भ्रमात्मक और त्रुटिमय से हैं। बहुत ही कम ग्रन्थ शुद्ध और पूर्ण ठहरते हैं।

रीति-ग्रन्थकारों का श्रेणी-विभाग—रीति-ग्रन्थकारों की श्रेणियाँ कई प्रकार से बनाई जा सकती हैं। केशवदास जैसे विद्वानों को **आचार्य श्रेणी** में, मतिराम, जसवन्तसिंह और भूषण जैसे कवियों को **अनुवादक श्रेणी** में और दूलह, गोविन्द आदि को **साधारण श्रेणी** में रख सकते हैं।

काव्याङ्ग-विवेचन के विचार से चिन्तामणि, दास, लछिराम आदि को सर्वाङ्ग **काव्य-शास्त्रकार**; मतिराम, भूषण, दूलह, जसवन्तसिंह आदि को **अलंकार-लेखक**; देव, पद्माकर आदि को रस तथा नायिका-भेद-लेखक कह सकते हैं।

रचना-शैलियाँ—चन्द्रालोक या कुवलयानन्द का अनुवाद और अनुकरण करते हुए लक्षण और उदाहरण दोनों को दोहों में (एक ही साथ या अलग-अलग) रक्खा गया है इसी दोहा-शैली का विशेष उपयोग किया गया है। राजा जसवन्तसिंह आदि इसके प्रवर्तक एवं विकासक हैं। दूसरी छन्द-शैली है जिसके अनुसार लक्षण तो दोहों में और उदाहरण अन्य छन्दों में दिये गये हैं। मतिराम, भूषण आदि इसके विकासक हैं। लक्षण और उदाहरण दोनों को कवित्तों में देकर दूलह आदि ने तीसरी शैली चलाई है।

नोट—लक्षण तो स्व-रचित छन्दों में और उदाहरण अन्य-कृत छन्दों में देनेवाले कुछ लेखकों को हम उन लेखकों से अलग कर सकते हैं जिन्होंने लक्षण और उदाहरण दोनों ही स्वरचित रक्खे हैं। इसी कोटि के लेखक विशेष हुए हैं।

आचार्य केशवदास—सनाढ्य-कुल-भूषण काशीनाथ मिश्र के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६१२ में और देहावसान १६७४ के समीप हुआ। ओरछा-नरेश के भाई श्री इन्द्रजीतसिंह इनके प्रेमी और आश्रयदाता थे। ये संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित एवं आचार्य थे, इसी से हिन्दी में रचना करना इन्हें कुछ खलता था। कान्यकुब्ज-कुल-भूषण महाराज वीरबल ने एक छन्द पर मुग्ध होकर इन्हें ६ लाख रुपये दिये थे।

केशवदास ने कुल ८ ग्रन्थ रचे:—(१) **रसिकप्रिया**—संवत १६४८ में, रसों का शास्त्रीय विवेचन इसमें किया गया है। (२) **कविप्रिया**—अलंकार-प्रधान काव्य-शास्त्र की मौलिक पुस्तक है। (३) **रामचन्द्रिका**—विविध छन्दों में राम-काव्य का प्रौढ़ ग्रन्थ है, प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में यह अपने ढंग का अनूठा है। इसके पश्चात् कोई भी ग्रन्थ राम-काव्य के क्षेत्र में इतना प्रौढ़ नहीं बना। (४) **विज्ञान गीता**—साधारण श्रेणी का एक कल्पित नाटक है। (५) **वीरसिंहदेव-चरित** (संवत् १६६४)—साधारण श्रेणी का वीर-कथा-काव्य है। (६) **जहाँगीर-जसचन्द्रिका** (संवत् १६६९)—साधारण चरित-काव्य है। **रत्नबावनी** और **नखसिख** नामी दो रचनायें और भी इनकी अब प्राप्त हुई हैं।

आलोचना—केशव की प्रतिभा बहुमुखी थी। इनमें आचार्य और महाकवि दोनों के स्तुत्य गुण थे। विविध छन्द-शैली में इनकी ऐसी रचना किसी की भी नहीं है। केशव काव्य में चमत्कार-चातुर्य एवं कला-कौशल को ही प्रधानता देते हैं, और वाग्वैचित्र्य को काव्य का प्राण-सा समझते हैं। मुक्तककाव्य में इन्हें प्रबन्ध-काव्य की अपेक्षा विशेष सफलता मिली है। इनकी वर्णन-शैली में जो राजसी ठाटबाट है, वह साङ्गोपाङ्ग है। इनके पाण्डित्य ने इनके काव्य को गूढ़, गम्भीर एवं क्लिष्ट कर दिया है। भाषा और छन्द पर इनका पूर्ण अधिकार प्रकट होता है। भाषा में बुन्देलखंडी और संस्कृत का प्रभाव है, वह सुव्यवस्थित, नियंत्रित और संयत भी है। केशव को सूर और तुलसी के बाद तृतीय स्थान कवियों की श्रेणी में मिला है। आचार्यों की श्रेणी में वे सर्व-प्रधान ही माने गये हैं।

चिन्तामणि त्रिपाठी—तिकवाँपुर (कानपुर) के निवासी कान्यकुब्ज-कुल-दीपक पण्डित रत्नाकर त्रिपाठी के ज्येष्ठ पुत्र तथा मतिराम, भूषण और जटाशंकर के भाई थे। इनका जन्म संवत् १६६६ के आसपास हुआ था। काव्य-शास्त्र तथा पिंगल के ये पंडित थे। रीति-ग्रन्थों की परम्परा वास्तव में इन्हीं से चलती है। इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे, जिनमें से कवि-कुल-कल्पतरु, काव्य-विवेक, काव्य-प्रकाश, छन्द-विचार और रामायण प्रमुख हैं। भाषा इनकी प्रौढ़, परिपक्व और अलंकृत व्रजभाषा है, लालित्य और प्रसादगुण उसमें अच्छा है। वर्णन-शैली उत्कृष्ट और रोचक है।

मतिराम—महाकवि मतिराम हिन्दी-संसार के प्रतिभावान् रत्न हैं। चिन्तामणि और भूषण इनके भाई हैं। इनका जन्म संवत् १६७४ के आसपास हुआ। इनके ग्रन्थ:—(१) **ललित-ललाम** संस्कृत के चन्द्रालोक पर आधारित अलंकार-ग्रन्थ है। इसमें लक्षण तो दोहों में और उदाहरण कवित्त-सवैयों में हैं। काव्य में सरस भाव-व्यंजना के साथ ये चातुर्य-चमत्कार और काव्य-कौशल को भी प्रधानता देते हैं। (२) **छन्दसार**—पिंगल का अच्छा ग्रन्थ है। (३) **रसराज**—सबसे मनोरम और अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, इसमें रसों की मार्मिक विवेचना की गई है, इसमें इनका आचार्यत्व झलकता है। साहित्यसार, लक्षण-शृंगार और सतसई भी इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं।

आलोचना—कवित्त-सवैयावाली शैली में ही इन्होंने विशेष रचना की है, दोहात्मक सतसई-शैली को रचना भी इनकी अच्छी है। स्वाभाविकता और मौलिकता इनके काव्य के विशेष गुण हैं। सर-सता तो सर्वत्र पाई जाती है। इनकी व्रजभाषा सरस, लचीली, स्वच्छ और स्वाभाविक है। पद्माकर और घनानन्द को छोड़ तत्का-लीन और कोई कवि ऐसी भाषा नहीं लिख सका। शब्दावली भावोपयुक्त, स्पष्ट और व्यञ्जक है। वाक्य-विन्यास अलंकृत और कला-कौशलमय होता हुआ स्वाभाविक है। भाव-भावनामयी जीवन की सच्ची दशाओं का मार्मिक चित्रण इन्होंने ख़ूब किया है। देव और बिहारी से यह कम नहीं ठहरते।

भूषण—महाकवि भूषण का जन्म संवत् १६७० में हुआ। भूषण इनकी उपाधि थी। इनके असली नाम का पता नहीं। वीर-काव्य में ये एक ही माने गये हैं, महाराज शिवाजी को इन्होंने और इनको उन्होंने अमर कर दिया।

इनके ग्रन्थ—**शिवराजभूषण**—साहित्य-दर्पण के आधार पर वीर-स्तवन-काव्य के रूप में शिवाजी की प्रशंसा-युक्त अलंकार-ग्रन्थ है। **शिवाबानी**—वीर-स्तवन मुक्तककाव्य है। **छत्रशाल-दशक**—इन पर मुग्ध होकर इनकी पालकी उठानेवाले महाराज छत्रशाल का स्तवन-काव्य है।

आलोचना—भूषण की रचना में साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों प्रकार का महत्त्व है। आदर्श वीर नायक को, जो हिन्दू, हिन्दी, हिन्द का मान्य प्रेमी और उत्थापक था, लेकर इन्होंने प्रोत्साहक और ओजपूर्ण वीर-स्तवन-काव्य लिखा है, जिसमें राष्ट्रीयता की पूरी झलक है। अस्तु भूषण को राष्ट्रीय कवि भी कह सकते हैं। उनके काव्य में स्वाभाविकता, ज़िन्दादिली और आवेशपूर्ण ओज है। उसमें दिखावा नहीं है। योग्य पात्र की स्तुति है अवश्य किन्तु सच्ची सहानुभूति के साथ। इन्होंने कवित्त-शैली से मुक्तककाव्य और रीति-ग्रन्थ-रचना में नवीनता पैदा की। प्रायः सभी अलंकार-ग्रन्थों में शृंगार-रस के ही उदाहरण रहते थे। इन्होंने उसमें वीर-रस का संचार कर दिया। इनकी भाषा सबल, सजीव और प्रौढ़ है। वाक्यविन्यास, शुद्ध, व्यवस्थित और मँजा हुआ है। हाँ बुन्देली और अवधी का प्रभाव कुछ

अवश्य है। कहीं कहीं व्याकरण के नियम तोड़े-मरोड़े तथा कुछ शब्द गढ़े और रूपान्तरित भी किये गये हैं। इनमें कवित्व तो था, आचार्यत्व विशेष न था। ललित-ललाम से इनके शिवराज-भूषण की पदावली कहीं कहीं पूरी मिल जाती है।

महाराज जसवन्तसिंह—मारवाड़ की गद्दी पर संवत् १६९५ में बैठे। औरंगज़ेब इनसे सदा भयभीत रहता था। संवत् १७३८ में इनका देहावसान हुआ। ये साहित्य-मर्मज्ञ और तत्त्वज्ञानी थे। स्वयं भी ये कवि थे और कवियों और विद्वानों का आदर भी बहुत करते थे।

इनके ग्रन्थ:—इनका रचा हुआ **भाषा-भूषण** नामक अलंकार-ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध और प्रचलित है। यह चन्द्रालोक पर ही विशेषतया आधारित है। उसी के अनुकूल इसमें एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों रक्खे गये हैं। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक, अपरोक्ष-सिद्धान्त, आनन्दविलास, सिद्धान्तसार, अनुभव-प्रकाश और सिद्धान्त-बोध इनकी तत्त्व-ज्ञान-विषयक काव्य-पुस्तकें हैं। इनकी भाषा सुन्दर, स्पष्ट और सरल ब्रजभाषा है।

कुलपति मिश्र—महाकवि बिहारीलाल के भानजे थे, और राजा रामसिंह के दरबार में रहते थे। सं० १७२७ में काव्य-प्रकाश के आधार पर इन्होंने **रसरहस्य** नामक एक सर्वाङ्गपूर्ण काव्य-शास्त्र का ग्रन्थ लिखा। अलंकार-निरूपण में भूषण के समान इन्होंने भी राजा रामसिंह की प्रशंसा की है।

महाकवि देव का जन्म सं० १७३० में माना गया है। १६ वर्ष की ही अवस्था में इन्होंने **भाव-विलास** नामक काव्य-शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। इसी से इनकी अपूर्व प्रतिभा का पता चलता है। ये इटावा के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।

इनके ग्रन्थ :—इन्होंने २६ पुस्तकें रची हैं, जिनमें से भाव-विलास (काव्य-शास्त्र का ग्रन्थ), रसविलास, काव्यरसायन, देवमायाप्रपंच (एक प्रकार का नाटक), रागरत्नाकर, चार पचीसियाँ, नीतिशतक, प्रेमदीपिका और नखसिख मुख्य हैं।

आलोचना—थोड़ा-बहुत रूपान्तर करके ये एक ग्रन्थ से दूसरा ग्रन्थ बना देते थे। अस्तु इनके ग्रन्थों में पुनरुक्ति बहुत मिलती है। इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। अपने समय की कवित्त-सवैयात्मक, दोहात्मक आदि सभी प्रमुख शैलियों में इन्होंने रचना की है। नाटक, नीति और भक्ति-सम्बन्धी रचनाएँ भी की हैं। संगीत और पिंगल का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था। ३० से ३४ वर्ण तक की घनाक्षरी इन्होंने लिखी है और छन्दों में और भी विशेषताएँ इन्होंने कर दिखलाई हैं। इन्होंने केवल ३९ अलंकार लिये हैं और कई अलंकारों के लक्षणों में रूपान्तर करके अपनी मौलिक विशेषता भी दिखलाई है। इनकी उक्तियाँ और उपमाएँ मौलिक हैं। नखसिख, नायक-नायिका-भेद और ऋतु-वर्णन भी इन्होंने ख़ूब लिखा है। **देवचरित**, श्रीकृष्ण के चरित्र को चित्रित करता हुआ चरित्र-काव्य है। शुद्ध प्रेम को ही इन्होंने

प्रधानता दी है। **काव्यरसायन** काव्य-शास्त्र का सर्वाङ्ग-पूर्ण एक उत्तम ग्रन्थ है।

देव की भाषा—प्रौढ़, सुगठित और भाव-पूर्ण है। शब्द-संचयन बड़ा ही कोमल और सरस है, उसमें कर्ण-कटु शब्द और संयुक्त वर्ण नहीं आने पाये। कठिन से कठिन तुकों का भी निर्वाह देव ने अपने विषद् शब्द-कोष के बल से अच्छा किया है। वाक्य-विन्यास भावगम्य, मुहावरेदार, अलंकृत और गठा हुआ है। उक्तियाँ और उपमाएँ विचित्र हैं। रूपक बड़े ही चित्रोपम हैं। कहीं कहीं शब्द तोड़े-मरोड़े भी गये हैं। देव अपने गुणों से हिन्दी-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान पाते हैं।

श्रीपति—कालपी-निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनकी बुद्धि बड़ी ही तीव्र और प्रतिभा विलक्षण एवं प्रौढ़ थी। ये उच्च कोटि के कवि और आचार्य थे।

इनके ग्रन्थः—काव्य-सरोज (सं० १७७७) काव्य-शास्त्र का सर्वाङ्ग-पूर्ण, विशद और प्रौढ़ ग्रन्थ है। विषय-प्रतिपादन बड़ा ही स्पष्ट और सरल है। भिखारीदास का काव्यनिर्णय इसी पर आधारित है। इसके बहुत से स्थल तो दास ने ज्यों के त्यों ही ले लिये हैं। **कविकल्पद्रुम, रससागर,** अनुप्रासविनोद, अलंकार-गंगा और विक्रम-विलास भी इनके अच्छे ग्रन्थ हैं। काव्य-दोषों का विवेचन इन्होंने ख़ूब किया है और केशव के काव्य में भी दोष दिखलाये हैं। अस्तु ये सच्चे, निष्पक्ष और निर्भीक आलोचक भी थे। इनकी कविता प्रौढ़, अलंकृत और

उच्च कोटि की है। भाषा भावपूर्ण, सुगठित, स्पष्ट और सरस है, तथा वाक्य-विन्यास संयत और मृदुल है।

भिखारीदास ट्योंगा (प्रतापगढ़) के कृपालुदास श्रीवास्तव के सुपुत्र थे। इनके २ लड़के थे, जो निस्सन्तान मरे। प्रतापगढ़ के राजभाई हिन्दूपतिसिंह इनके आश्रयदाता थे।

इनके ग्रन्थ :—इनके ९ ग्रन्थों का पता चला है। जिनमें से **काव्य-निर्णय** (श्रीपतिकृत काव्य-सरोज पर आधारित), **छन्दार्णव** (पिंगल), **रससारांश**, विष्णुपुराण, (दोहे-चौपाइयों में अनुवाद) और **अमरप्रकाश** (संस्कृत के अमरकोष का हिन्दी में पद्यानुवाद) उल्लेखनीय हैं।

आलोचना :—दास ने दोहा-चौपाई और कवित्त-सवैया-शैली का उपयोग किया है। हिन्दी में कोष की कमी थी इससे इन्होंने अमरकोष का अनुवाद किया है। इनकी भाषा परिपक्व और व्यवस्थित है। रचना इनकी सुन्दर, भावपूर्ण और अलंकृत है। स्वाभाविकता की ओर इन्होंने विशेष ध्यान दिया है। काव्य के सभी अंगों की विवेचना करते हुए इन्होंने आचार्यत्व दिखाने का भी प्रयत्न किया है। विषय-प्रतिपादन भी इनका अच्छा है। मौलिकता की ओर भी इन्होंने चलने का प्रयत्न किया है और अलंकारों का एक नवीन वर्गीकरण सा किया है। कहीं कहीं लक्षण अस्पष्ट और भ्रमात्मक से हो गये हैं। रस-सारांश में इन्होंने देव के समान भिन्न-भिन्न जाति की स्त्री-दूतियों का वर्णन किया है। छन्दार्णव पिंगल का एक सुन्दर ग्रन्थ है। अपने

रचना-काल (सं० १७८५ से १८०७) में इन्होंने हिन्दी की अच्छी सेवा की।

दूलह—सुकवि कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ कवीन्द्र के सुपुत्र थे। दूलह इनकी उपाधि थी। इनका रचनाकाल सं० १८०० से १८२५ तक माना गया है। अलंकार-लेखकों में दूलह का अच्छा स्थान है। इनका "**कविकुलकंठाभरण**" अलंकारों का एक प्रसिद्ध और प्रमाणित ग्रन्थ है। इसमें लक्षण और उदाहरण दोनों कवित्तों में दिये गये हैं जो याद करने में ललित और देर में भूलनेवाले हैं। दूलह की प्रतिभा और विद्वत्ता सराहनीय है। शुद्ध और प्रौढ़ ब्रजभाषा में इन्होंने सुन्दर रचना की है।

पद्माकर—उत्तर कला-काल में पद्माकर को देव, बिहारी आदि के समान बहुत बड़ी ख्याति मिली है। मुक्तककाव्य की परम्परा को इन्हीं के समय में अच्छा उत्कर्ष प्राप्त हुआ है। यह बाँदा-निवासी, तैलंग ब्राह्मण सुकवि मोहनलाल भट्ट के यहाँ सं० १८१० में पैदा हुए और अपने पिता ही के समान प्रसिद्ध कवि और पंडित होकर कई राज-दरबारों में सम्मानित भी हुए।

आलोचना—उत्तर रीति-काल के कवियों में इन्हें सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है। इन्होंने बड़ी ही सरस, कोमल और सुगठित ब्रजभाषा में भावमयी, ललित रचना की है। प्रसाद और माधुर्य इनके प्रत्येक छन्द में उमड़ता है। इनकी रचना-

शैली अपने ढंग की अनूठी है। इनके से सुन्दर कवित्त और किसी के नहीं हुए। पद्माकर एक प्रतिभावान् कवि थे, जिन्हें भाषा और भाव-प्रकाशन-रीति पर अधिकार प्राप्त था। भावुकता और सहृदयता के साथ ही साथ इनमें कल्पना भी मनोहारिणी है। यमक और अनुप्रासादि से अलंकृत पद-विन्यास और काव्य-कौशल से कलित, ललित वाक्य-विन्यास भी सर्वथा सराहनीय है। चित्रोपमता भी इनकी रचना में खूब मिलती है। हाँ कहीं कहीं व्यर्थ के शब्द भी इन्होंने रख दिये हैं, फिर भी पद्माकर को हम अच्छा स्थान देते हैं।

इनके ग्रन्थ—वीर-रस-प्रधान वीर-स्तवन-काव्य के रूप में हिम्मत बहादुर विरदावली, वाल्मीकीय रामायण के आधार पर रामरसायन (साधारण प्रबन्ध-काव्य), गंगालहरी (सुन्दर मुक्तक काव्य), जगद्विनोद (नायक-नायका-भेद की प्रसिद्ध पुस्तक) पद्माभरण (दोहा-शैली में अलंकार-ग्रन्थ), प्रबोध-पचासा (भक्ति-वैराग्य का सुन्दर मुक्तक काव्य) इन्होंने रचे।

ग्वाल कवि—इनकी जीवनी ज्ञात नहीं है। इनका रचना-काल सं० १८७९ से १९१९ तक कहा गया है। इन्होंने ४ रीति-ग्रन्थ और २ संग्रह-ग्रन्थ रचे, जिनमें से रसिकानन्द (अलंकार-ग्रन्थ), भूषण-दर्पण (काव्य-दोषों का विवेचन), हम्मीरहठ (वीर-काव्य) विशेष उल्लेखनीय हैं।

आलोचना— ये बड़े ही प्रतिभावान् कवि थे। साधारण और उच्च दोनों कोटि की अच्छी रचनाएँ करते थे। देशाटन से

इन्होंने १९ भाषाएँ सीखी थीं, जिनकी छाया इनकी ब्रजभाषा पर पड़ी है। भाषा, मुहावरेदार, स्पष्ट और सुव्यस्थित है। वाक्य-विन्यास कोमल, भावपूर्ण, संयत और अलंकृत है। वाग्वैचित्र्य, और काव्य-कौशल, स्वाभाविकता और मौलिकता के साथ इनकी रचना में पाये जाते हैं। इनका ऋतु-वर्णन विस्तृत और विदग्ध है।

प्रतापसाहि—ये रतनेश के सुपुत्र थे और चरखारी-नरेश श्री विश्रामसाहि के यहाँ रहते थे। इनकी जीवनी अज्ञात है।

इनके ग्रन्थ—इनके ग्रन्थों में **व्यंगार्थ-कौमुदी** और **काव्य-विलास** बहुत प्रसिद्ध हैं। प्रथम में लक्षणा और व्यंजना आदि का विस्तृत विवेचन है, द्वितीय में काव्यांगों का सुन्दर वर्णन है। रसों के विवेचन में इन्होंने यथाक्रम नायिका-भेद भी दिखलाया है। इनके अतिरिक्त जयसिंहप्रकाश, अलंकार-चिंतामणि (अलंकार-ग्रन्थ), काव्य-विनोद, जुगुल-नखसिख (सीता-राम का नख-सिख) आदि पुस्तकों से इनका कवित्व और आचार्यत्व प्रकट होता है, इन्होंने रसराज और सतसई की टीकायें भी लिखी हैं।

आलोचना—कला-काल के ये ही अन्तिम आचार्य और सुकवि कहे जाते हैं। ये बड़े ही प्रतिभावान् कवि और काव्य-शास्त्र के पंडित थे। मुक्तककाव्य का उत्कर्ष इनके समय में बहुत कुछ पूर्ण हुआ। इनकी कल्पना मधुर, मौलिक, कोमल और स्वाभाविक है। भावों में सजीवता और साकारता है। रचना में अनुभति-व्यंजना और वर्णन-चारुता भी मिलती है। इन्होंने प्रौढ़

और परिमार्जित व्रजभाषा लिखी है जिसमें स्निग्धता, और धारा-वाहिकता मिलती है। पदावली सुगठित और भाव-मय है। शब्द-संचयन सुन्दर, भाव-पूर्ण, सार्थक और सुबोध है। कहीं कहीं फ़ारसी के शब्द भी आगये हैं। हाँ निरर्थक और रूपान्तरित शब्द प्रायः नहीं मिलते।

अन्य कवि—उन थोड़े से कवियों के विषय में भी हम यहाँ कुछ कह देना चाहते हैं जिन्होंने रीति-ग्रन्थ तो नहीं लिखे किन्तु काव्य के सभी नियमों पर पूर्ण ध्यान देकर कला-कौशल-पूर्ण रचना की है।

सेनापति—कान्यकुब्ज-कुल-भूषण, अनूपशहर-वासी पं० गंगाधर के सुपुत्र और पं० हीरामणि दीक्षित के शिष्य थे। इनका जन्म सं० १६४६ के आसपास माना गया है।

आलोचना:—ये बड़े ही भावुक और प्रतिभावान् कवि थे। इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र, दृष्टि पैनी और कल्पना बहुमुखी थी। इनका सा षट्-ऋतु-वर्णन हिन्दी-साहित्य में दूसरे का नहीं है। ऋतु-वर्णन में कवि लोग प्रायः प्रकृति की दशाओं और अवस्थाओं का चित्रण करते हुए अपनी भावनाओं के साथ उनका सामंजस्य करते हैं। यह मनोवैज्ञानिक पद्धति है। प्रकृति उसी रूप में दिखलाई पड़ती है जिस रूप में दर्शक की भावनाएँ उठती हैं। यही इसका आधार है। इस प्रकार इसमें बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् का मिलाप होता है। इस शैली के कवियों ने प्राकृतिक दृश्यों पर नीति की मार्मिक बातें भी घटित की हैं। प्रकृति के

दृश्यों या अवस्थाओं का वास्तविक चित्रण करते हुए अन्य पदार्थों या मानव-मानस को उनसे प्रभावित होता हुआ दिखलाना ऋतु-वर्णन का एक दूसरा ढंग है। जहाँ केवल कला-कौशल, वाग्-वैचित्र्य और वर्णन-वैलक्षण्य को ही प्रधानता देते हुए केवल काव्य-कौशल के ही लिए ऋतु-वर्णन किया जाता है वहाँ वह प्रायः कृत्रिम सा ही रहता है। ऋतु-वर्णन का विकास संस्कृत के ऋतुसंहार नामी काव्य से विशेष हुआ है। **बारामासा की रचना-शैली** इसी का एक वह विकसित रूप है जिसमें बारहों महीनों की दशाएँ दिखाई जाती हैं। सेनापति के षट्ऋतु-वर्णन में प्रकृति-निरीक्षण और उसका चित्रण, काव्य-कौशल और स्वाभाविकता के साथ दिखलाया गया है। भाषा अलंकृत, भावमयी, ललित और मधुर है। उसमें माधुर्य और प्रसादगुण विशेष पाये जाते हैं। सेनापति ने केवल घनाक्षरी या कवित्त ही लिखे हैं क्योंकि दूसरे छन्दों में इनका नाम न आ सकता था और ये अपनी रचनाओं को चोर कवियों से बचाने के लिए उनमें अपना नाम अवश्य रखना चाहते थे। इन्होंने गर्वोक्तियाँ भी खूब लिखी हैं। भक्तिरस के कवित्त इनके **कवित-रत्नाकर** में संग्रहीत है, जो बड़े ही सुन्दर और मर्मस्पर्शी हैं। इनका **काव्यकल्पद्रुम** नामी ग्रन्थ भी बड़ा ही सुन्दर और स्तुत्य है। सेनापति का स्थान कला-कुशल कवियों में बहुत ऊँचा है।

महाकवि बिहारीलाल—इनका जन्म सं० १६६० के निकट बसुआ गोविन्दपुर (ग्वालियर) में हुआ। ये माथुर

चौबे थे। बाल्यकाल में ये बुन्देलखंड में रहे। फिर अपनी ससुराल मथुरा में रहने लगे। सं० १७२० में इनका देहान्त होना माना गया है। जयपुर-नरेश की, जो इनके एक दोहे पर मुग्ध हो गये थे, प्रेरणा से इन्होंने अपनी परम प्रसिद्ध **सतसई** तैयार की। कहते हैं कि प्रत्येक दोहे पर इन्हें एक अशर्फ़ी मिली थी। सतसई शृंगार-रस की सबसे अधिक प्रसिद्ध और सुन्दर पुस्तक मानी जाती है। इसकी कई टीकाएँ भी हुई हैं, और कई कवियों ने रोला, छप्पय आदि दूसरे छन्दों में इसके भावों का विकासन किया है। सतसई का अनुवाद संस्कृत और उर्दू में भी हुआ है।

आलोचना—बिहारी की व्रजभाषा सर्वोत्तम, परम शुद्ध, संयत और संस्कारयुक्त है। सरल और स्पष्ट होती हुई भी उसकी पदावली में भाव-गाम्भीर्य, अर्थ-गौरव और विलक्षण लालित्य है। कल्पना-कौशल, काव्य-कला, चित्रण-चातुर्य, वर्णन-चमत्कार आदि प्रायः सभी उच्च गुण सतसई में पाये जाते हैं। सतसई सुन्दर भावपूर्ण दृश्यों की एक ऐसी चित्रशाला है, जिसमें सभी सुन्दर अनुभावों और विभावों आदि के सजीव, मर्म-स्पर्शी, अनुभूति-व्यंजक, और स्वाभाविक चित्र हैं। उक्ति-वैचित्र्य भी सराहनीय है। यद्यपि संस्कृत की गाथा सप्तशती और अमरूक-कृत आर्या सप्तशती पर ही सतसई आधारित है तो भी वह बहुत कुछ मौलिकता रखती है। बिहारी का स्थान कला-काल के महाकवियों में ऊँचा माना जाता है।

बेनी—बैंता, ज़िला रायबरेली के रहनेवाले वन्दीजन थे। ये अवध के वज़ीर टिकैतराय के यहाँ रहते थे। उन्हीं के नाम पर संवत् १८४९ में इन्होंने एक अलंकार-ग्रन्थ **टिकैतराय-प्रकाश** बनाया और सं० १८७४ में **रसविलास** भी लिखा। दोनों साधारण कोटि के ही हैं। बेनी हास्य-रस के अच्छे लेखक थे।

हिन्दी में हास्य-रस की बड़ी कमी है। बेनी ने इसकी पूर्ति करने का प्रयत्न किया और सुन्दर भड़ौवे लिखे। भड़ौवा हास्य-रस का वह साधारण अंग है जिसमें उपहासमय सुनिन्दा की प्रधानता सी रहती है। फ़ारसी और उर्दू में इसे हजो और अँगरेज़ी में (satire) कहते हैं। हमारे यहाँ इनके विषय प्रायः कंजूस राजा या रईस ही रहे हैं। उर्दू में भी ऐसा ही है। अँगरेज़ी में सम-सामयिक कवियों और लेखकों पर भड़ौवे लिखे गये हैं, और उनकी पंक्तियों में हास्योचित रूपान्तर किया गया है।

यह नितान्त स्मरणीय है कि भड़ौवा आक्षेप-पूर्ण अश्लील और अशिष्ट न हो, वरन् ऐसा हो जिससे उसके पात्र का भी वैसा ही मनोरञ्जन हो जैसा पढ़ने और सुननेवालों का होता है। व्याजस्तुति और व्याज-निन्दा दोनों अलंकार इसमें प्रायः विशेष पाये जाते हैं। वाग्वैचित्र्य और रचना-चातुर्य ही इसको सुन्दर बनाते हैं। व्यंजनापूर्ण और सूक्ष्य भड़ौवे बड़े ही रोचक होते हैं।

बेनी के भड़ौवे कहीं कहीं भद्दे भी हो गये हैं, तो भी उर्दू के प्रधान हजो-लेखक सौदा के समान उनको भी ख्याति मिली है। बेनी की भाषा बोलचाल की भाषा में ढली हुई ब्रजभाषा है।

ऐसी ही सीधी-सादी, स्पष्ट और मुहावरेदार भाषा भड़ौवों के लिए उपयुक्त होती है। बेनी की पदावली सरल और सुगठित है।

——

जय-काव्य

देश और समय के परिवर्तन के प्रभाव से जय-काव्य की शैली में भी रूपान्तर हो गया था। अब रासो-रचना न होती थी वरन् उसके स्थान पर मुक्तक-काव्य के रूप में काव्य-कला और अलंकारादि को प्रधान रखकर **वीर-स्तवन-काव्य** की शैली उठ चली थी। इसके दो रूप प्रचलित थे, १—वीर-देव-स्तवन-**काव्य**, जिसमें वीर कार्य करनेवाले महावीर (हनुमान) जी जैसे देवताओं की प्रशंसा की जाती है। **२—वीर-पुरुष-स्तवन-काव्य**, जिसमें वीर पुरुषों और उनके कार्यों का प्रशंसात्मक वर्णन किया जाता है। इसमें प्रायः ऐसे ही वीर पुरुष लिये जाते हैं जो देश-प्रसिद्ध नायक और समाज के हितकारी होते हैं, जैसे छत्रशाल, शिवाजी, राणा प्रताप आदि। किन्तु आगे कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं आदि की प्रशंसा करते हुए इसे रूपान्तरित करके इससे **स्तवन-काव्य** की शैली चला दी थी। प्रायः इसमें युद्ध-वीरता और दान-वीरता को ही विशेषता देकर अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के साथ नृप-प्रशंसा की गई है।

ध्यान रखना चाहिए कि लोकप्रिय वीर नेताओं के ही स्तवन-काव्य की पुस्तकें प्रायः विशेष प्रचलित और प्रसिद्ध हुई हैं।

आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसापूर्ण पुस्तकें विशेष प्रचलित न होकर लुप्त ही हो गईं। हाँ जो रीति-ग्रन्थों के रूप में लिखी गईं उनमें से कुछ अवश्य ठहर गईं, जिनमें से शिवराजभूषण, शिवाबावनी, छत्रशाल-दशक, हिम्मत-बहादुर-बिरदावली आदि पुस्तकें यहाँ उल्लेखनीय हैं।

इस काल में वीर-काव्य की जो दो-चार पुस्तकें उल्लेखनीय हैं वे हैं १—**जङ्गनामा**—प्रयाग के श्रीधर (जन्म सं० १७३७)—कृत, जिसमें फर्रुखशियर और जहाँदारशाह के युद्ध का वर्णन है। २—**हम्मीरहठ**—ग्वालकवि-कृत, ३—**छत्रप्रकाश**—मऊ (बुन्देलखंड) के गोरेलाल पुरोहित उपनाम लालकवि का रचा हुआ। यह एक प्रकार का चरितकाव्य है और महाराज छत्रशाल की आज्ञानुसार दोहा-चौपाई-शैली में विस्तार से लिखा गया है। यह ऐतिहासिक महत्त्व भी रखता है, इसकी घटनाएँ और तिथियाँ आदि ठीक हैं। काव्य-दृष्टि से भी यह प्रौढ़ और उत्तम है। इसकी पदावली ओज-पूर्ण, सबल तथा सुगठित है। वाग्वैचित्र्य और काव्य-कौशल भी इसमें अच्छा है, कहीं कहीं देश-दशा का भी चारु चित्रण किया गया है। इसमें बुन्देलखंडी से प्रभावित मिश्रित भाषा मिलती है। लाल-कवि ने **विष्णु-विलास** नाम से बरवाछन्द में रहीम के समान नायिका-भेद की भी एक पुस्तक लिखी है।

सुजानचरित्र—मथुरा के चौबे बसन्तजी के पुत्र **सूदन** कवि-रचित है जिसमें उनके आश्रयदाता भरतपुर के राजकुमार सुजानसिंह के ऐश्वर्यपूर्ण चरित्र का चित्रण किया गया है।

सुजानसिंह इतिहास-प्रसिद्ध वीर हैं, अस्तु ऐसे नायक से यह काव्य चमक उठा है। इसमें सं० १८०२ से १० तक की ऐतिहासिक घटनाओं का प्रशंसा-पूर्ण वर्णन है। वीर-काव्य की प्राचीन शैली को विशेषता देकर यह कई प्रकार की ओजस्विनी छन्दों में लिखा गया है, हाँ कवित्त कुछ विशेष हैं। पदावली वीररसोपयुक्त, ओजपूर्ण और परुषावृत्तिमूलक है। कहीं कहीं बहुधा निरर्थक शब्द भी ओज और ज़ोर बढ़ाने के लिए रक्खे गये हैं। इसमें टवर्ग, संयुक्त घोषवान् या महाप्राण वर्ण ख़ूब आये हैं। सानुस्वार वर्णों का भी बाहुल्य है। भाषा चूंकि कई रूपों को है, इससे काव्य की चारुता कम हो गई है, यद्यपि वह है अलंकृत और सजीव। वर्णन-शैली विस्तार की ओर झुकती है, सामग्री आदि का वर्णन काव्य-मर्यादा और प्रबन्ध की उचित सीमा से बाहर हो गया है, हाँ कवि की बहुज्ञता को ज़रूर दिखलाता है। युद्ध-वर्णन, उमंगोत्साह-पूर्ण भाषण के कारण रोचकता रखता है। ग्रन्थ अन्ततो गत्वा समादरणीय है। यही ग्रन्थ इस काल के वीर-काव्यों में प्रधान है। इसके पश्चात् वीर-काव्य की सत्ता और महत्ता लुप्तप्राय सी ही हो जाती है।

कृष्ण-काव्य—जिस प्रकार रस-काव्य के अंग-प्रत्यंगरूपी नखशिख, ऋतुवर्णन और नायिका-भेद आदि पर स्वतन्त्र रचनाएँ हो चली थीं उसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में भी विशेष घटनाओं को लेकर उन पर स्वतन्त्र रूप से रचनाएँ की जाने लगी थीं। इनमें वस्तु-वर्णन ही विशद और प्रधान रहता था। कृष्ण के बाल और तरुण जीवन की सरस तथा सुन्दर घटनाओं या

लीलाओं पर ही स्वतन्त्र काव्य लिखे गये हैं। ऐसे काव्य को वर्णनात्मक **लीला-काव्य** कह सकते हैं। कुछ समय के लिए इस काव्य में बड़ी बाढ़ सी आ गई थी और बहुत से भक्त कवियों ने ऐसी ही रचनायें की थीं। दानलीला, मानलीला, वनविहार, जलक्रीड़ा आदि इसके उदाहरण हैं। साहित्यिक दृष्टि से ये साधारण हैं। चाचा **हितवृन्दावनदास** और **मंचित** कवि ही इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय हैं।

यहीं पर यह भी लिख देना उचित है कि इस काल में कृष्ण-काव्य की प्राचीन परिपाटी से भक्तों ने कुछ स्फुट रचनाएँ भी कीं, किन्तु वे विशेष उल्लेखनीय नहीं। हाँ कुछ ऐसे प्रेमी कवि उल्लेखनीय हैं जिन्होंने प्रेम को प्रधान रखकर कृष्ण के आधार पर सुन्दर रसात्मक मुक्तककाव्य की रचना की है। साथ ही कुछ भक्त कवियों ने राम और कृष्ण के लीला-स्थानों के माहात्म्य का भी वर्णन किया है, जिसमें प्रकृति-चित्रण का स्वाभाविक रूप नहीं है। प्रेमी कवियों में घनानन्द का स्थान बहुत ऊँचा है।

घनानन्द सं० १७४६ में पैदा हुए और सं० १७९६ की नादिरशाही में मारे गये। ये जाति के कायस्थ और दिल्ली-शाह के मीर मुंशी थे। ये सुजान नामी वेश्या पर बड़े मुग्ध रहते थे। अन्त में ये विरक्त होकर निम्बार्क-सम्प्रदाय में साधु हो गये। ये कृष्ण और व्रज के प्रगाढ़-प्रेमी थे।

घनानन्द का हृदय बड़ा ही सरस, कोमल और भावुक था, प्रम के ये पुजारी और सौन्दर्य के उपासक थे। सुजान के वियोग

से जलकर तथा विरक्त होकर इन्होंने मार्मिक अनुभूति-व्यंजनापूर्ण वियोग-शृंगार की सुन्दर रचना की है, जिसमें स्वाभाविक और मर्मस्पर्शिणी प्रेम की पीर है। इनकी भाषा सर्वथा शुद्ध व्रजभाषा है। पदावली प्रौढ़, मधुर और कोमल है। शब्द-संगठन भावपूर्ण, सरल और सरस है। वाक्य-विन्यास स्पष्ट, स्वच्छ और सुगठित है। इनके छन्दों में सर्वत्र सुजान का सम्बोधन है, जो शृंगार-पक्ष में नायक का और भक्ति-पक्ष में कृष्ण का अर्थ देता है। इन्होंने कई ग्रन्थ रचे हैं। उनमें से सुजानसागर विरह-लीला और रस-केलि-बल्ली आदि प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त नागरीदास, अलबेलिअलि, श्रीहठी और रसिकगोविन्द आदि उल्लेखनीय हैं।

राम-काव्य—इस काल में राम-काव्य की भी कवियों ने कुछ रचना की है किन्तु उनमें से केवल कुछ ही को सफलता मिली है। इन कवियों में से कुछ ने तो संस्कृत की रामायण आदि का अनुवाद किया है और कुछ ने उनके आधार पर स्वतन्त्र रूप से भी रचनाएँ की हैं।

राजा विश्वनाथसिंह रीवाँ-नरेश थे। सं० १७७८ से ९७ तक इन्होंने राज्य किया। ये बड़े भक्त, विद्यानुरागी और कुशल कवि थे। इनके नाम से बहुत से पंडितों ने प्रसन्न होकर कई ग्रन्थ लिखे हैं, फिर भी इनकी रची हुई पुस्तकों से इनकी प्रतिभा प्रकट होती है। कबीर और उनके मत पर भी इनकी आस्था थी। कबीर, जायसी और तुलसी की ही शैलियों का इन्होंने उपयोग किया

है, और राम-काव्य की अच्छी रचना की है। **आनन्द-रघुनन्दन** नाटक इनका प्रथम साहित्यिक नाटक माना गया है (भारतेन्दु के भी द्वारा)। बीजक और विनयपत्रिका की टीकायें भी इनकी अच्छी हैं। अवधी-मिश्रित व्रजभाषा ही इनकी भाषा है।

कृष्ण-काव्यकारों के समान कुछ राम-काव्यकारों ने भी ऋतुवर्णन, नखशिख एवं मुख्य लीलाओं पर रचनायें कर के राम-काव्य को बढ़ाया है। ऐसे कवियों में किशोरीशरण, मधुसूदन-दास (रामाश्वमेध नामी प्रबन्ध-काव्य के लेखक), और ललन-दास मुख्य हैं।

गिरिधरदास—प्रसिद्ध भारतेन्दु बाबू के पिता और काशी के रईस कवि थे। इनका असली नाम गोपालचन्द था। इनका जन्म-सं० १८९० है। इन्होंने ४० पुस्तकें लिखीं। इनकी प्रतिभा बहुमुखी, प्रौढ़ और तीव्र थी। इन्होंने भिन्न भिन्न शैलियों से भिन्न भिन्न विषयों पर अच्छी रचनायें की हैं। इन्होंने नाटक भी अच्छे रचे। भक्ति-सम्बन्धी रचना भी मौलिक और अनुवाद रूप में अच्छी की है। रीति-ग्रन्थ, नीति-काव्य, चरित-काव्य की पुस्तकें भी इनकी अच्छी हैं। इनकी भाषा सरल और सरस है। उसमें काव्य-कौशल और चातुर्य भी है। इनके ग्रन्थों में से जरासन्धवध (महाकाव्य), भारतीभूषण (अलंकार-ग्रन्थ), रस-रत्नाकर (रस-ग्रन्थ), छन्दार्णव (पिंगल), और नहुष नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। वाल्मीकि रामायण का इन्होंने अनुवाद किया और कुछ स्तोत्र भी लिखे।

नीति-काव्य और अन्य सुकवि

इस काल में नीति-सम्बन्धी काव्य की रचना भी अच्छी हुई है, और वह प्रायः दो शैलियों में ही। पहले तो **दोहात्मक** सतसई शैली में और फिर **कुण्डलिया** शैली में। चूँकि मुसलमानी राज्य में जनता के लिए कोई ऐसी व्यवस्था न की गई थी जिसके द्वारा चारित्रिक सुधार के साथ ही साथ पारस्परिक सम्बन्ध का सूत्र भी सुन्दररूप में दृढ़ होता। इस समय पंचायतों के ही द्वारा सामाजिक एवं व्यावहारिक आदि समस्यायें सुलझाई जाती थीं। मुसलमान राजाओं की ओर से न्यायालय बहुत ही कम थे और जो थे भी उनमें मुसलमानी नीति-विधान ही प्रधान था, जो हिन्दुओं के लिए उपयुक्त न ठहरता था। इसलिए इस समय नीति-ग्रन्थों की भी आवश्यकता हुई। संस्कृत में इस विषय के काव्य-ग्रन्थ बहुत थे, अस्तु बहुत से कवियों ने उन्हीं के आधार पर (उनका अनुवाद करके अथवा न्यूनाधिक रूप में अपनी अनुभूतियों को भी मौलिकता से रखते हुए) नीति-काव्य की रचना की। चूँकि जनता का राज-नीति से सम्बन्ध न था अतएव इसे छोड़ कर केवल लौकिक या व्यावहारिक (सामाजिक) नीति को ही कवियों ने प्रधानता दी। कुछ कवियों ने कृषि आदि से सम्बन्ध रखनेवाले अपने अनुभवों को भी लेकर घाघ के समान रचना की है।

नीति-काव्य में वाग्वैचित्र्य और चमत्कृत-चातुर्यमय काव्य-कौशल ही विशेष रूप में पाया जाता है। कहीं कहीं अनुभूति-व्यञ्जना भी मिलती है जो तथ्य-कथन के साथ उक्ति-वैलक्षण्य के द्वारा ही रख दी गई है। इस क्षेत्र की भाषा साधारण और स्पष्ट रहती है। कुछ सहृदय कवियों ने अपनी प्रतिभामयी कल्पना से अन्योक्ति के द्वारा भी बड़ी मार्मिक बातें कही हैं और अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् का सामंजस्य किया है। किन्तु साधारणतया कवियों ने बोध-वृत्ति को ही जागृत करते हुए उपदेशों के साथ तथ्य-कथन को ही अपना उद्देश्य माना है और उसे उक्ति-वैचित्र्य से प्रभाव-पूर्ण बनाया है। नीति-काव्यकारों में से विशेष उल्लेखनीय तीन ही सुकवि हैं:—

वृन्द कवि मेड़ता (जोधपुर)-निवासी राजा राजसिंह के गुरु थे। सं० १७६१ में इन्होंने **वृन्दसतसई** लिखी जिसमें रहीम और तुलसी की शैली मिलती है। भाषा साधारण, सरल और स्पष्ट है। साथ ही स्वच्छता से सुव्यवस्थित भी है। शब्दालंकार बहुत ही कम हैं। हाँ उपमा, उदाहरण, दृष्टान्त आदि उपयुक्त अलंकार इसमें विशेष पाये जाते हैं। तथ्य-कथन की ही इसमें प्रधानता है।

गिरधर कविराय—इनकी जीवनी ज्ञात नहीं। जन्म-सं० इनका १७७० माना गया है। इन्होंने कुंडलियों में नीति-काव्य की अच्छी रचना की है, और इसके ही लिए इन्हें पूरी ख्याति मिली है। इनकी कुंडलियाँ सर्वत्र व्यापक हैं, क्योंकि इनकी,

भाषा और शैली सभी बहुत ही सुबोध, सरल और साफ़ हैं। बातें अनुभवगम्य, उपयोगी और तथ्यता लिये हुए स्वाभाविक हैं। कला-कौशल भी रचना में बहुत ही कम है।

इनमें सादगी की ही प्रधानता है। कहते हैं कि गिरधरजी ने जितनी कुंडलियों का संकल्प किया था वे उतनी न बना पाये थे। अस्तु, उनकी पूर्ति, उनकी सुयोग्या धर्मपत्नी ने की। जिन कुंडलियों में साईं पद मिलता है वे इन्हीं की रची हुई मानी जाती हैं। गिरधरदास इस क्षेत्र में सर्वोच्च सुकवि ठहरते हैं।

दीनदयाल गिरि काशी के गयाघाट-निवासी पाठक थे। इनका जन्म वसन्तपञ्चमी सं० १८४९ में हुआ। भारतेन्दु के पिता इनके मित्र थे। सं० १९१२ में इन्होंने कुंडलिया की शैली से अन्योक्ति को प्रधानता देकर **अन्योक्तिकल्पद्रुम** नामक नीति-काव्य की एक सुन्दर पुस्तक लिखी, जिसमें नीति के साथ ही साथ ज्ञान और भक्ति की भी बातें मार्मिकता और व्यंजकता के साथ कही गई हैं। भाषा प्रौढ़, सुगठित और अलंकृत है। हाँ कहीं कहीं वह कुछ पूर्वीय हिन्दी से भी प्रभावित है। इसमें काव्य-कौशल भी अच्छा है। सं० १८६९ में **दृष्टान्ततरङ्गिणी** नाम की दूसरी पुस्तक तथा कृष्णलीला का कवित्त-शैली में सरस वर्णन करते हुए **अनुरागवाग** सं० १८८८ में, तथा ऋतुओं की प्राकृतिक छटा का चित्रण करते हुए, ज्ञान और वैराग्य-सम्बन्धी मार्मिक बातें लेकर **वैराग्यदिनेश** भी इन्होंने सं० १९०६ में लिखा। रचना इनकी सर्वथा सराहनीय है।

नीति-काव्यकारों के अतिरिक्त इस काल के सुकवियों में से विशेष उल्लेखनीय वे सुकवि हैं जो प्रेम के पुजारी और सौन्दर्य के उपासक थे और जिन्होंने मुक्तक-शैली से प्रेमात्मक शृंगार ही को विशेषता देकर मर्मस्पर्शिणी व्यंजना के साथ मधुर और मृदुल भाषा में प्रेम की पीर दिखलाई है।

बोधा राजापुर (बाँदा) के निवासी सरयूपारी ब्राह्मण थे, इनका नाम बुद्धसेन था। पन्ना-नरेश इन्हें प्यार से बोधा कहते थे। इन्होंने सरस और मंजुल भाषा में कवित्त-सवैया-शैली से प्रेम-पूर्ण सुन्दर रचना की। इनकी पुस्तक **विरहवारीश,** विप्रलम्भ शृङ्गार की एक सुन्दर रचना है। इश्कनामा भी इनकी दूसरी पुस्तक अच्छी है।

ठाकुर—इस नाम के तीन कवि हुए हैं। दो तो असनी (फ़तेहपुर) के ब्रह्मभट्ट थे, तीसरे बुन्देलखण्ड के कायस्थ थे। तीनों ही की रचनायें एक सी हैं। असनी के **प्रथम ठाकुर** का विशेष हाल ज्ञात नहीं। **द्वितीय ठाकुर** ऋषिनाथ कवि के पुत्र और सेवक कवि के पिता थे। इनके पूर्वज गोरखपुर के पयासी ब्राह्मण थे। नरहर कवि की कन्या से विवाह करके ये भाट हो गये। इनकी रचना साधारणतया सरस और सुन्दर है। **तीसरे ठाकुर** बुन्देलखंड के लाला ठाकुर-दास हैं, जिनका जन्म ओरछा में सं० १८२३ में हुआ। पद्मा-कर से इनकी अच्छी नोक-झोंक होती थी। स्वर्गीय लाला भगवानदीन ने इनकी रचनाओं का एक संग्रह **ठाकुर ठसक** के

नाम से निकाला है। इनके छन्द बड़े ही सरस, अनुभूति-व्यंजनामय और मर्मस्पर्शी हैं। भाषा साफ़, मुहावरेदार और सरल है। उसमें कला-कौशल की कृत्रिमता नहीं है। हाँ बुन्देलखंडी की कुछ पुट अवश्य मिलती है। इसमें लोकोक्तियाँ भी सुन्दर रूप में पाई जाती हैं।

पजनेस पन्ना-निवासी थे। इनका विशेष हाल ज्ञात नहीं है। इनकी रचनाओं का एक संग्रह **पजनेस-प्रकास** के नाम से छप चुका है। शृङ्गारी कवियों में इनका अच्छा स्थान है। इनकी व्रज-भाषा प्रौढ़, अलंकृत और कला-कौशलमय है, हाँ मधुरता और सरसता कुछ कम है। उसमें सामासिक पद और कठोर वर्ण अधिक आये हैं। इससे कुछ अरोचक कटुता सी प्रतीत होती है। फ़ारसी के भी शब्द या पद इन्होंने रख दिये हैं। रचना इनकी प्रतिभामयी और सराहनीय है।

मुसलमान कवि—उर्दू-साहित्य के रचना-क्षेत्र में इस समय मुसलमान लोग बड़े वेग से कार्य कर रहे थे, और गुरु-शिष्य-परम्परा के साथ संगठन करके बढ़ते जाते थे। नवाबों और शाही दरबारों में भी इन्हें और इनकी शायरी को अच्छा प्रोत्साहन मिलता था। मुशायरे करके ये उर्दू-शायरी का प्रचार भी खूब करते थे। इससे मुसलमानों ने अब हिन्दी-रचना का कार्य कम कर दिया था। कुछ हिन्दू भी इनके साथ शायरी करने लगे थे। इस समय के प्रमुख उल्लेखनीय मुसलमान कवि हैं:—**अलीमुहिब ख़ाँ** (प्रीतम) जो आगरा-निवासी थे, और

जिन्होंने 'खटमलबाईसी' नाम की एक छोटी सी हास्य-रस की पुस्तक लिखी है।

आलम वास्तव में बड़े ही प्रेमी-ब्राह्मण थे। शेख़ नाम की एक रसिका रंगरेज़िन से विवाह करके ये मुसलमान हो गये। ये औरंगज़ेब के पुत्र मुअज़्ज़म के यहाँ रहते थे। प्रेमात्मक कथा-काव्य की परम्परा के अनुसार इन्होंने **माधवानल कामकन्दला** नाम की एक प्रेम-कहानी लिखी। इनकी प्रेममयी सरस कविताओं का एक संग्रह **आलम-केलि** के नाम से प्रकाशित हुआ है। आलम की भाषा चलती हुई, सीधी-सादी, साफ़-सुथरी और सरस है। उसमें सजीवता और साकारता भी है। हाँ कला-कौशल नहीं है। पदावली ललित है और रचना में सच्ची उमंग और लगन है। कहीं कहीं फ़ारसी के इश्क की भी झलक है। इनके अतिरिक्त **रसलीन** (ग़ुलाम नबी), जिन्होंने अलंकृत शैली से सं० १७९५ में **अंगदर्पण** नाम की पुस्तक आङ्गिक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखी है, और सं० १७९८ में दोहा-शैली से रसभावादि-निरूपक **रस-प्रबोध** नाम का एक ग्रन्थ और भी लिखा है, और यहाँ उल्लेखनीय है।

स्त्री लेखिकाएँ

इस काल में स्त्रियों ने रचना-क्षेत्र में विशेष कार्य नहीं कर पाया, क्योंकि वे काव्य-कला से, जिसका प्राधान्य था, परिचित न थीं। कुछ दो-चार देवियों ने बहुत ही साधारण श्रेणी का

भक्ति-काव्य लिखा है। विशेष उल्लेखनीय लेखिकाएँ हैं:—गिरधर कवि की धर्मपत्नी **साईं**, जिन्होंने कुंडलिया-शैली से नीति-काव्य लिखा है, जैसा कहा जा चुका है। दूसरी **शेख़**, जो आलम कवि की प्रियतमा थीं और जिन्होंने शृङ्गार-रस की प्रेममयी स्फुट रचना की है, जो आलम-केलि में संग्रहीत है। इसी समय में मशायरे के स्थान पर समस्या-पूर्ति का भी प्रचार किया गया था, उससे प्रभावित होकर स्त्रियों ने भी समस्या-पूर्ति की है। इस क्षेत्र में भी शेख़ का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

सन्त-कवि—यह स्पष्ट ही है कि इस काल में व्यक्तित्व के प्रभाव से सन्तों ने अपने अपने अनेक पंथ चला दिये थे, किन्तु ये लोग प्रायः निरक्षर भट्टाचार्य ही होते थे। कबीर-पन्थ जैसे प्रधान पन्थों का अनुकरण करते हुए इन्होंने गुरु-महिमा, निर्गुण-गान जैसे परम्परागत विषयों पर ही साखी, रमैनी आदि की शैली से मिश्रित भाषा में, जो देहाती से विशेष प्रभावित थी, निम्नश्रेणी की स्फुट रचनाएँ की हैं। सन्तों में से धरनीदास, चरनदास जैसे दो-एक ही सन्त उल्लेखनीय हो सकते हैं।

नाटक

यद्यपि यह काल रीति-ग्रन्थ-रचना का था, किन्तु खेद है कि इस काल में भी नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धी कोई भी विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ नहीं लिखा गया। नाटक भी इस काल के पूर्वार्ध में नहीं लिखे गये क्योंकि मुसलमानी शासन का प्रभाव इनकी

रचना को रोकता था। मुसलमान-धर्म नाट्य-कला, नाट्य-शास्त्र और नाटक-रचना का विरोध करता है। कहीं कहीं राम-लीला और रासलीला आदि, जिनका प्रारम्भ भक्ति-काल में हो चुका था, होती थी, किन्तु उनमें धार्मिकता का ही तत्त्व विशेष रहता था, नाटक का कम। साथ ही रीति-ग्रन्थों की परम्परा के प्रबल प्रचार-प्रभाव ने भी नाटक आदि साहित्य के अन्य विषयों को दबा रक्खा था। इनका उदय कला-काल के अवसान में ही सुचारु रूप से हुआ है। कुछ लोगों ने संस्कृत के कुछ नाटकों के अनुवाद करके नाटक-रचना का प्रारम्भ तो किया किन्तु सफलता न हुई क्योंकि व्रजभाषा का गद्योचित रूप अब तक भी निश्चित न हो सका था, इसलिए नाटक-रचना में बड़ी बाधा पड़ती थी। अनुवादित नाटकों में व्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा। उल्लेखनीय नाटक इस समय के हैं:—

१—महाकविदेव-कृत **देवमाया प्रपंच नाटक**। इसमें काव्य का ही प्राधान्य है और अन्योक्ति को विशेषता दी गई है। कल्पना-जन्य सद्धर्म और माया के युद्ध तथा सद्धर्म की विजय का वर्णन इसमें दार्शनिक और चारित्रिक पुट के साथ किया गया है। अनुवादित नाटकों में से रामकवि-कृत २—**हनुमन् नाटक**, निवाज कवि-कृत गद्य-पद्य-मय, ३—**शकुन्तला-नाटक**, सोमनाथ-कृत, ४—**माधवविनोद** (मालती माधव का अनुवाद) व्रजवासीदास-कृत, ५—**प्रबोधचन्द्रोदय** नाटक ही उल्लेखनीय हैं। मौलिक नाटकों में से हिन्दी का सर्वांगपूर्ण उल्लेखनीय प्रथम नाटक, जो साहित्यिक महत्ता

रखता है, रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथसिंह-कृत १—**आनन्द-रघुनन्दन नाटक** है। इसके पश्चात् भारतेन्दुबाबू के पिता बाबू गोपालचन्द्र-कृत २—**नहुष नाटक** का स्थान है। भारतेन्दु बाबू के ही समय से नाटक-रचना का सच्चा विकाश प्रारम्भ होता है, इसका वर्णन आगे होगा।

गद्य—जैसा कहा जा चुका है, इस काल में व्रजभाषा ही सर्वमान्य व्यापक साहित्यिक भाषा थी। अवधी भाषा का प्रभाव इसके सामने विशेष न रह गया था। मुसलमानों के प्रभाव से पश्चिमीय हिन्दी की एक शाखा, पंजाबी तथा फ़ारसी से प्रभावित होकर व्रजभाषा के आधार पर उर्दू नाम से विकसित हो चली थी, जिसका प्रयोग हिन्दू लोग विशेषतः न करते थे। इसके साथ ही हिन्दुओं ने संस्कृत से प्रभावित करके व्रजभाषा के आधार पर पंजाबी उर्दू के साँचे में कुछ ढालते हुए **खड़ी बोली** के नाम से एक नागरिक भाषा उठाई थी, जो धीरे धीरे विकसित होकर बढ़ रही थी।

यह सब होते हुए भी अब तक हिन्दी का गद्योचित रूप निश्चित न हुआ था, इसी लिए इस काल में गद्य-रचना का कार्य न हो सका। उर्दू-प्रभावित व्रजभाषा से खुसरो, गंग और जटमल जैसे दो-चार लेखकों ने पहले कुछ गद्य लिखा, किन्तु काव्य के प्रभाव ने उसे आगे न बढ़ने दिया। व्रजभाषा का गद्य भी इस समय शिथिल ही पड़ा रहा, हाँ नाटकों और टीकाओं आदि में इसका कुछ उपयोग किया गया। गद्य का काल खड़ी बोली के विकास-काल से ही चलता है, जिसका वर्णन आगे होगा।

अभ्यास

१—केशवदास के आचार्यत्व के विषय में तुम क्या जानते हो? इनकी मुख्य विशेषताएँ बतलाओ।

२—रीति-ग्रन्थकारों का वर्गीकरण यहाँ किस प्रकार किया गया है?

३—इस काल के प्रधान महा-कवियों के रचना-कार्य का आलोचनात्मक परिचय दो और उनकी विशेषताएँ बताओ।

४—उन मुख्य रीति-ग्रन्थकारों के प्रमुख रीति-ग्रन्थों की सूक्ष्म आलोचना करो, जिन्होंने सर्वाङ्गपूर्ण काव्य-शास्त्र, केवल अलंकार और रस-भावादि पर ग्रन्थ लिखे हैं।

५—छन्दः-शास्त्र के रचना-कार्य की सूक्ष्म विवेचना करते हुए, प्रमुख पिंगलकारों का उल्लेख करो।

प्रश्नपत्र—नं० ३

१—कला-काव्य के प्रमुख कविकारों का आलोचनात्मक विवेचन करते हुए, उनकी भाषा और शैलियों पर प्रकाश डालो।

२—जय-काव्य का विवेचन करते हुए उसके प्रधान कवियों की आलोचना करो।

३—धार्मिक भक्ति-काव्य की दशा पर एक युक्ति-संगत और विवेचनात्मक लेख लिखो तथा उसके प्रमुख कवियों की आलोचना करो।

४—नीति-काव्य की भाषा, शैली और भावादि पर तुमने कहाँ क्या पढ़ा है। सतर्क उस पर अपने विचार प्रकट करो।

५—दीनदयाल और गिरिधर कविराय की तुलनात्मक आलोचना करो।

६—मुक्तक-प्रेम-काव्य के दो प्रमुख कवियों का आलोचनात्मक परिचय दो।

७—मुसलमान कवि इस समय क्यों कम हो गये, सतर्क लिखो। नाटकों की इस समय क्या दशा रही और स्त्रियों ने कैसा रचना-कार्य किया?

८—इस समय की गद्य-रचना तथा गद्य-शैली के विषय में तुम क्या जानते हो। क्यों इनकी उन्नति इस समय नहीं हुई?

९—राजाओं ने हिन्दी-क्षेत्र में क्या कार्य किया है। प्रमुख राजा कवियों की सूक्ष्म आलोचना करो।

——

चतुर्थ अध्याय

आधुनिक काल

(सं० १८५७ से १९८७ तक)

राजनैतिक दशा—इस काल के प्रारम्भ में देश की राजनैतिक दशाओं का चक्र परिवर्तन के लिए घूमने लगा था। हिन्दी-प्रदेश पर शासन करनेवाले मुग़ल-साम्राज्य का पतन हो चुका था। दक्षिण के महाराष्ट्र-साम्राज्य का प्रभावातंक प्रतिदिन बढ़ रहा था किन्तु यह कई भागों में विभक्त होकर अब उतना शक्तिशाली न रह गया था। एक ओर अँगरेज़ों की ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने अपना प्रभाव जमाते हुए अपने राज्य का भी सूत्रपात कर लिया था और प्रतिदिन वह उसकी वृद्धि भी करती जा रही थी। हमारा हिन्दी-प्रदेश बहुत कुछ ब्रिटिश-साम्राज्य में आ गया था।

इन परिवर्तनों से यद्यपि देश की परिस्थितियों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा, किन्तु हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ सका। हाँ मुग़ल-पतन से उर्दू और फ़ारसी की बढ़ती हुई प्रगति को कुछ धक्का ज़रूर पहुँचा, ज्यों ज्यों ब्रिटिश-

साम्राज्य बढ़ता गया और अँगरेज़ों के साथ हमारा सम्पर्क घनिष्ट होता गया त्यों ही त्यों हम पर, हमारी हिन्दी पर और हिन्दी-साहित्य पर अँगरेज़ों, अँगरेज़ी और उसके साहित्य का प्रतिबिम्ब पड़ने लगा। लार्ड बेंटिङ्ग के समय से सामाजिक और देश-रक्षा के सुधार-सम्बन्धी कई विधान चले। सती-प्रथा आदि बन्द हुई। चोर-डाकुओं का अत्याचार भी कम हुआ। आगे चलकर डलहौज़ी के समय से रेल-तार तथा डाक-विभागादि की व्यवस्था हुई, जिससे हमारा लोक-व्यवहार, व्यापार आदि विस्तृत हो गया। मुद्रण-यन्त्र के प्रचार से भी साहित्य के प्रचार की वृद्धि हुई। शिक्षा-विभाग के कारण देश में शिक्षा का प्रचार हुआ, जिससे साहित्य की उन्नति हुई। अँगरेज़ी-भाषा के प्रचार ने विचार-धारा तथा साहित्य-प्रगति में रूपान्तर कर दिया। अँगरेज़ी के अनेक शब्द तथा उसके साहित्य की रचना-शैलियाँ आदि हिन्दी में वैसे ही आ गईं जैसे फ़ारसी की शब्दावली और उसकी शैलियाँ आई थीं। यह गद्य-प्रधान अँगरेज़ी-साहित्य का ही प्रभाव है कि हिन्दी में गद्य का उदय और विकास हुआ है। अँगरेज़ी के नाटक, उपन्यास और आलोचना आदि विविध विषयक रचनाओं का प्रभाव भी हिन्दी पर ख़ूब पड़ा है। इसके कारण काव्य-रचना का कार्य तो शिथिल हो गया किन्तु गद्य-रचना का कार्य ख़ूब बढ़ा।

अपना साम्राज्य स्थापित करके अँगरेज़ों ने देशी-भाषाओं से परिचित होना और देश को अपनी भाषा से परिचित करना

राज-कार्य के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक समझ कर शिक्षा-विभाग के द्वारा प्रारम्भ किया, इसलिए पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता हुई, जो पंडितों और मौलवियों से तैयार कराई गईं। इसी के साथ ही साथ अख़बारों या समाचार-पत्रों का भी प्रचार बढ़ा, क्योंकि इनसे शासक और शासित दोनों का कार्य सधता है। इनके कारण भी हिन्दी-गद्य को प्रचुर वृद्धि हुई। थोड़े ही समय के पश्चात् देश में कई प्रभावशाली और प्रधान आन्दोलन उठे, जिनसे भी हिन्दी और हिन्दी-साहित्य ख़ूब प्रभावित हुआ। सन् १८५७ में जो विप्लव हुआ वह अल्पकालीन ही रहा, अस्तु उसका प्रभाव साहित्य पर विशेष न पड़ा, उसके पश्चात् देश में साधारणतः सुख-शान्ति हो गई। इससे साहित्य की वृद्धि में बड़ी सहायता मिली और ज्ञान-विज्ञान तथा कला-कौशल का प्रचार हो चला। कुछ समय के बाद अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस की स्थापना हुई, जिससे राष्ट्रीय और राजनैतिक भावों की जागृति बड़े बल-वेग के साथ हुई। देश की विचार-धारा इन दोनों भावों से प्रभावित होकर देश-प्रेम, भाषानुराग, राष्ट्रीयानुरक्ति तथा स्वातंत्र्योपासना के रंग में अनुरंजित हो चली। इसी के अंग रूप में और भी स्वदेशी प्रचार आदि के अल्प आन्दोलन उठे, जिनका प्रभाव भी भाषा और साहित्य पर ख़ूब पड़ा। आन्दोलन-प्रचार के लिए समाचार-पत्रों ने गद्य को ख़ूब उठाया और बढ़ाया, क्योंकि बिना इसके कार्य-सिद्धि असाध्य सी ही थी।

धार्मिक दशा—यह ज्ञात ही हो चुका है कि मध्य-काल में पौराणिक भक्ति-धर्म के साथ व्यक्तित्व से प्रभावित कबीर आदि के कतिपय पन्थ भी चल पड़े थे। मुसलमानों के धार्मिक विचारों ने भी यहाँ की धार्मिक परिस्थिति में बहुत-कुछ रूपान्तर कर दिया था। कला-काल में धार्मिक दशा की ओर, चूँकि वह एक प्रकार से स्थिर सी हो गई थी, बहुत कम ध्यान दिया गया, इससे समयान्तर के कारण उसमें कुछ अनीप्सित बातें आ चली थीं। विद्वानों का ध्यान साहित्य की ओर लग चुका था अतः धार्मिक क्षेत्र में निरक्षर भट्टाचार्य साधू-सन्तों की ही प्रधानता हो चली और इसलिए धार्मिक दशा गिरने लगी। जब यह दशा बहुत बिगड़ने लगी तब एक बार फिर इसके सुधार के लिए विद्वानों को उठना पड़ा। **स्वामी दयानन्द** ने आर्य-समाज की स्थापना करके वैदिक धर्म और समाज-सुधार के आन्दोलन उठाये, जिनके कारण देश में नवीन जागृति और जीवन-ज्योति फैल चली। पन्थों, सम्प्रदायों तथा अन्य भ्रमात्मक संस्थाओं के अशुद्ध सिद्धान्तों का खंडन और वैदिक-धर्म का मंडन करते हुए स्वामीजी ने तर्कात्मक आलोचना-पद्धति को भी विकसित किया। सभाओं और व्याख्यानों के द्वारा उन्होंने बोल-चाल की साधारण हिन्दी को उन्नत करके फैला दिया। धार्मिक साहित्य की रचना करते हुए उन्होंने हिन्दी-गद्य को साहित्योचित बनाने का प्रयत्न किया। इन्हीं के कारण लोगों का ध्यान संस्कृत-साहित्य की ओर बड़े उमंगोत्साह के साथ बढ़ा। उसका पठन-पाठन भी

हो चला और उसके ग्रन्थ-रत्नों के अनुवाद भी लोग हिन्दी में करने लगे, जिससे हिन्दी-गद्य परिष्कृत, शिष्ट, सम्पन्न और प्रौढ़ हो चला, उसमें वाग्वैचित्र्य, विवेचन-चातुर्य और भाव-व्यंजना की वृद्धि हुई।

रेल, तार से होनेवाली व्यापारिक उन्नति से प्रान्तों में साहचर्य्य सम्बन्ध और पारस्परिक आदान-प्रदान बढ़ा। हिन्दी के क्षेत्र का सम्बन्ध समीपवर्ती बंगाल-प्रान्त से विशेष हुआ। बँगला भाषा पर अँगरेज़ी का प्रभाव पहले ही गहरा पड़ चुका था, अब बँगला से हिन्दी भी प्रभावित हुई। उसमें नाटकों और उपन्यासों की जो कमी थी वह पूरी हो चली। बँगला-काव्य से भी हिन्दी-काव्य में बहुत कुछ रूपान्तर हुआ। बँगला में संस्कृत-शब्दों की विशेषता है, अस्तु इसके कारण भी हिन्दी में संस्कृत-शब्दावली का प्राधान्य हुआ। विज्ञान और तर्कात्मक धर्म के प्रचार से देश की कतिपय बुराइयाँ (प्रेत-पिशाच आदि की पूजा, अन्धविश्वास, चारित्रिक ह्रास) दूर हो चलीं, जिससे धार्मिक-काव्य (भक्ति-प्रधान) में शिथिलता आ चली। देश की बोध-वृत्ति तर्क-प्रधान बुद्धितत्त्व के साथ बढ़ी, जिससे गद्य को ही उन्नति मिल सकी। आर्यसमाज ने अपने आन्दोलन के प्रचार में संगीत से तो अवश्य सहायता ली किन्तु काव्य से न ली अतः इस समाज में **पं० नाथूराम शङ्कर** को छोड़कर और कोई भी विशेष उल्लेखनीय कवि नहीं हुआ। इसका एक प्रभाव यह भी पड़ा कि अशिष्ट शृंगार-काव्य से, जो कला-काल में कुछ बढ़ गया था, जनता की कुरुचि हो गई। यहीं हम

यह भी कह देना चाहते हैं कि समाज की दशा बिगड़ती चली आ रही थी। उसमें यद्यपि सङ्गटनात्मक शक्ति कुछ शेष थी तो भी वैमनस्य और पार्थक्य की भावनाएँ बढ़ रही थीं। कर्तव्याकर्तव्य ज्ञान के अभाव से, जो अशिक्षित देश में विशेष बढ़ता है, समाज की चारित्रिक दशा का ह्रास हो गया था और बाल-विवाहादि की कुप्रथाएँ फैल रही थीं। मुसलमानों के कारण स्त्री-समाज में परदा-प्रथा का चलन हो चुका था जिससे उसकी संस्कृति और उन्नति रुकी हुई थी। जिस प्रकार मुसलमानों के आचार-विचार, पह-नावे-ओढ़ावे एवं शिष्टाचार आदि के प्रभाव से हिन्दुओं के विचार-व्यवहार में रूपान्तर हुआ था उसी प्रकार अब अँगरेज़ों के प्रभाव से भी होने लगा। अस्तु इन विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली कविता भी अब कुछ अरोचक सी हो चली।

राव-राजाओं तथा अन्य उच्च श्रेणियों के व्यक्तियों का सम्बन्ध अँगरेज़ों और अँगरेज़ी से विशेष हो चला, जिससे उनके यहाँ अब काव्य-साहित्य की चर्चा कुछ कम हो चली और कवियों तथा काव्य-रसिकों के विशेष विशेष स्थानों में केवल मनोरंजनार्थ ही समस्या-पूर्ति होने लगीं। यह हम कह चुके हैं कि अब कविता का ह्रास हो चला था। पिंगल आदि के अच्छे ग्रन्थ बने ही न थे, अस्तु समस्यापूर्ति के द्वारा ही काव्य की चर्चा जीवित थी और वह भी केवल कुछ ही कवि-समाजों में। स्वामीजी के प्रभाव से सामाजिक दशा की ओर लोगों का ध्यान गया और उसके सुधार की ओर प्रयत्न भी हो चला, जिससे हिन्दी-साहित्य पर भी अच्छा प्रभाव

पड़ा। सामाजिक कुरीतियों के आधार पर गल्प, नाटक, उपन्यास आदि रचे जाने लगे और सामाजिक विषयों पर कुछ कविता भी लिखी जाने लगी।

रचना-केन्द्र—देश, काल आदि का प्रभाव रचना-केन्द्रों पर भी पड़ता है। इस समय की परिवर्तित परिस्थितियों ने रचना-केन्द्रों में भी बहुत कुछ उलट-पलट कर दिया और अब वे पूर्ववत् तीर्थों और राज-दरबारों में ही न रह कर देश में इधर-उधर बिखर गये। अब पूर्ववत् सम्पर्क-प्रवर्धक विधानों की संकीर्णता न थी इस लिए भाषा और साहित्य का प्रचार-प्रस्तार भी देश में चारों ओर हो रहा था। आन्दोलनों और केन्द्रों के कारण भाषा में जो प्रान्तीयता की पुट आ जाती थी, अब वह कम हो चली। समाचार-पत्रों और पाठ्य-पुस्तकों के द्वारा हिन्दी-गद्य में व्यापक एकरूपता के लाने का प्रयत्न हो चला। यद्यपि अब तक हिन्दी में पूर्णतया सुविनिश्चित एकरूपता न आ सकी थी।

प्रेसों के खुलने से रचना-केन्द्रों के स्थान पर प्रकाशन-केन्द्र खुल गये और धनी-मानी व्यक्तियों ने नगरों में जहाँ प्रेस खोले वहीं पुस्तकें प्रकाशित हो चलीं। स्वामीजी के खंडन-मंडन से लोगों में प्राचीन ग्रन्थों के खोजने और उनका अवलोकन कर प्रमाणादि के रूप में उन्हें रखने की रुचि बढ़ चली। अँगरेज़ों में भी हिन्दुओं की विचार-धारा (सभ्यता, संस्कृति आदि) से परिचित होने की इच्छा प्रबल हुई और यह स्वभावतः शासक-जाति के लिए आवश्यक एवं अनिवार्य ही है, अस्तु प्राचीन पुस्तकों की खोज और उनका

प्रकाशन हो चला। इन्हें सुबोध करने के लिए इनके भाषान्तर भी हुए।

शिक्षा-विभाग के द्वारा जिस प्रकार गद्य (व्यापक रूप से निश्चित और स्थिर गद्य) के उत्थान में सहायता मिली है उसी प्रकार विविध विषयों की रचना में भी, हिन्दी से परिचित होने के लिए अँगरेज़ों को व्याकरण की आवश्यकता हुई। अस्तु, व्याकरण-सम्बन्धी पुस्तकें भी वे तैयार करने और कराने लगे। इसी प्रकार गणित, भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि विषयों की पुस्तकें गद्य में रची जाने लगीं, जिससे हिन्दी में विविध विचारों को प्रस्फुटित और प्रकाशित करने की क्षमता बढ़ चली।

ध्यान रखने की बात है कि खड़ी बोली के गद्य का उदय हिन्दी-प्रान्त में न होकर कलकत्ते में हुआ है, क्योंकि अँगरेज़ों ने वहीं सबसे प्रथम अपने लिए पाठशाला खोलकर पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराई हैं, किन्तु वहाँ व्रजभाषा-प्रभावित ही खड़ी बोली का उदय हुआ। खड़ी बोली के ठेठ रूप का मौ० इन्शा के द्वारा लखनऊ से प्रचार किया गया। फिर क्रमशः बनारस, प्रयाग आदि में इसके रचना-केन्द्र निश्चित हुए और पश्चिम की ओर बढ़े। आर्य-समाज के प्रभाव से अजमेर और लाहौर आदि में भी हिन्दी का प्रचार हुआ और उधर भी रचनात्मक कार्य हो चला।

राष्ट्रीय जागृति के प्रभाव से हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य में लोगों का प्रेम बढ़ चला, अस्तु इनकी उन्नति के लिए भिन्न भिन्न स्थानों में कई संस्थाएँ खुलीं। इनमें से **काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा**

और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन विशेष उल्लेखनीय हैं। उक्त सभा ने हिन्दी को परिमार्जित करते हुए कचहरियों में स्थान दिलाने और व्यापक बनाने तथा उसके प्राचीन साहित्य का उद्धार करने में तथा उक्त सम्मेलन ने इसे राष्ट्र-भाषा करते हुए देशव्यापी बनाने में बहुत बड़ा कार्य किया है। अस्तु हिन्दी दोनों की ऋणी है।

विचार-धारा—इस परिवर्तन-प्रधान-काल में विचार-धारा का अपरिवर्तित रहना सर्वथा असाध्य सा ही था। नवीन साहित्य-रचना के समुद्र में प्रविष्ट होने के पूर्व नदी के समान देश की रुचि और विचार-धारा कई शाखाओं में विभक्त हो गई। विकाश-वाद के सिद्धान्त का भी यही मत है। इसका फल यह हुआ कि विविध विषयों की ओर लोग अभिमुख होकर रचनाएँ करने लगे और साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति करते हुए उसकी श्री-वृद्धि कर चले। अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोग हिन्दी को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे और उसके साहित्य को कुछ भी महत्त्व न देते थे। यह देखकर हिन्दी-हितैषियों और देशाभिमानियों ने हिन्दी-साहित्य की वृद्धि में सब प्रकार प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। स्मरणीय है यह काल विशेषरूप से खड़ी बोली को काव्य-क्षेत्र में लाने के स्तुत्य कार्य के लिए। गद्य-क्षेत्र में तो उसने अपना स्थान निश्चित करही लिया था। अब काव्य-क्षेत्र में भी उसने स्थान पाने का प्रयत्न किया। समाचार-पत्रों, पाठ्य-पुस्तकों, व्याख्यानों आदि के प्रभाव से खड़ी बोली, व्यापक और सर्व-साधारण की प्रधान भाषा सी हो गई। ब्रज-भाषा, जनता के परि-

चय-क्षेत्र से उत्तरोत्तर दूर होती गई और इसी लिए वह दुर्बोध ठहरने लगी, फलतः वह केवल कुछ साहित्यानुरागियों के समाज में ही संस्कृत भाषा के समान सीमित हो चली और जनता में खड़ी बोली ही पूर्ण प्रचलित होगई, इसी लिए काव्य में भी इसका उपयोग हो चला। एक विशेष लाभ इससे यह हुआ कि उर्दू-भाषा-भाषी शायरों ने हिन्दी में भी कार्य करना प्रारम्भ किया और उर्दू-भाषी समाज में भी हिन्दी का प्रवेश हो चला। खड़ी बोली के काव्य के प्रचार में समाचार-पत्रों एवं पाठ्य-पुस्तकों आदि ने बहुत बड़ी सहायता दी है।

अभ्यास

१—गद्य की वृद्धि इस समय क्यों और कैसे हुई, उसके प्रचार-प्रस्तार में किससे विशेष सहायता मिली ?

२—इस काल में साहित्य-रचना के केन्द्रों की क्या दशा रही, सतर्क और सकारण लिखो।

३—इस काल की विचार-धारा पर यहाँ क्या प्रकाश डाला गया है और तुम उससे कहाँ तक सहमत हो ?

४—खड़ी बोली का उपयोग काव्य में क्यों और किस प्रकार किया गया, सतर्क लिखो। साथ ही इस काल में व्रज-भाषा की दशा पर भी प्रकाश डालो।

५—अँगरेज़ों के कारण हिन्दी-भाषा और साहित्य पर क्या विशेष प्रभाव पड़ा है, आलोचनात्मक रूप से लिखो।

६—सामाजिक और धार्मिक दशाओं का सूक्ष्म विवेचन करते हुए उनके उन प्रभावों को जो हिन्दी-साहित्य पर पड़े हैं, सतर्क दिखलाओ।

हिन्दी-गद्य-विकास

प्रारम्भिक—यह पूर्व अध्यायों से प्रकट हो चुका होगा कि साहित्यिक क्षेत्र में ब्रजभाषा ही एक सर्वमान्य और व्यापक भाषा थी। यद्यपि भिन्न भिन्न प्रान्तों का प्रभाव उस पर पूर्णतया पड़ रहा था और उसमें इस प्रकार रूपान्तर भी हो रहा था तो भी उसका मूल-रूप प्रधान और व्यापक था। चूँकि देश-कालानुसार काव्य का ही विशेष प्रचार-प्रसार था इसलिए इसका काव्योचित रूप ही ख़ूब परिष्कृत और परिमार्जित हुआ था। कला-काल में तो यह इतनी अलङ्कृत, माधुर्य्य आदि गुणयुक्त, भाव-गम्य और सरस कर दी गई कि यह गद्य के लिए उपयुक्त ही न रह गई। अस्तु इसका उपयोग गद्य में न किया जा सका, अवधी आदि दूसरी भाषाएँ इसके प्रचार-प्रसार से पहले ही दब चुकी थीं। ब्रजभाषा के गद्य की असफलता तभी प्रकट हो चुकी थी जब उसका उपयोग गोकुलनाथ आदि ने अपने गद्य-ग्रन्थों में किया था।

आधुनिक काल के उदय होते ही, जैसा पहले दिखलाया जा चुका है, देश-काल की परिवर्तित परिस्थितियों के प्रभाव से, जो राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन उठे और हमारा सम्पर्क-सम्बन्ध व्यापार आदि की वृद्धि से बढ़ता हुआ अँगरेज़ों

और दूसरे प्रान्तों से हुआ और हमारी भाषा तथा हमारा साहित्य अँगरेज़ी, बंगाली आदि भाषाओं तथा उनके साहित्यों से प्रभावित हुआ इस सबके फल-स्वरूप में गद्य का ही प्रयोग-प्रचार अनिवार्य हुआ। चूँकि शिष्ट-समाज में उर्दू ही का विशेष प्रचार था इसलिए हिन्दी को वैसे ही साँचे में ढाल कर गद्योचित रूप देने की बात उचित और उपयोगी समझी गई। बस खड़ी बोली के गद्य का विकास हो चला। इसे महती सहायता मिली पत्र-पत्रिकाओं, स्कूलों की पाठ्य-पुस्तकों आदि के प्रचार-प्रवर्धन से। ब्रिटिश राज्य तथा उसके कर्मचारियों को देश की सभ्यता, संस्कृति और विचार-धारा आदि से परिचय प्राप्त करना भी आवश्यक हुआ और इसी लिए उन्होंने हिन्दी और उसके साहित्य की ओर ध्यान भी दिया।

खड़ी बोली—इसकी उत्पत्ति का विवेचन करना यद्यपि हमारे प्रसंग से बाहर की बात है और भाषा-विज्ञान से सम्बन्ध रखता है, फिर भी हम यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि खड़ी बोली किसी प्रान्त विशेष की व्यावहारिक भाषा नहीं और उसका उपयोग बोलचाल में नहीं होता। यद्यपि कुछ लोगों ने इसे दिल्ली के समीपवर्ती बुलन्दशहर, मेरठ आदि प्रान्तों की भाषा कहा है किन्तु वस्तुतः वहाँ यह भाषा साधारणतः बोली नहीं जाती। इसकी उत्पत्ति व्रजभाषा के उस रूप से हुई है जिस पर पंजाबी और कुछ अंशों में फ़ारसी का गहरा प्रभाव पड़ा है।*

---

* यही विचार श्रीरत्नाकर आदि विद्वानों का भी है।

नागरिक लोगों में इस भाषा के ठेठ रूप का प्रचार हुआ और मुग़ल-राज्य के पतन होने पर दिल्ली और आगरे से इस भाषा को लेकर व्यापारी और दूसरे लोग कानपुर, इलाहाबाद, मुर्शिदाबाद आदि की तरफ़ गये और उन्होंने ही इसका प्रचार किया। इसे साहित्यिक रूप आधुनिक काल में ही प्राप्त हुआ है। पहले खुसरो आदि कुछ ही लोगों ने, जैसा हम प्रथम लिख चुके हैं, इसका प्रयोग अपनी रचनाओं में किया था किन्तु उन्हें सफलता न मिली थी और इसका प्रचार भी न हो सका था। हाँ इसके स्थान पर मुसलमानों ने उर्दू को उठा दिया था और वह विकसित होकर हिन्दी से अलग एक स्वतंत्र साहित्यिक, शिष्ट-समाज और राज्य की भाषा बन गई थी और शायरों की कृपा से उसने अपना कुछ साहित्य भी तैयार कर लिया था। अस्तु आधुनिक समय के प्रारम्भ में भी इसी भाषा का विशेष प्रचार शिष्ट-समाज में रहा। चूँकि उर्दू और उसके साहित्य में भारतीयता की सच्ची झलक न थी वरन् फ़ारसी और उसके साहित्य का ही पूरा प्रभाव था, अतः विद्वान् अँगरेज़ों तथा हिन्दुओं ने यह देखकर संस्कृत के आधार पर स्वतंत्र रूप से खड़ी बोली को उठाना उचित समझा। विद्वान् हिन्दुओं ने यह देखकर कि मुसलमान लोग हिन्दी को हेय कह कर उर्दू के सामने विशेष नहीं उठने देना चाहते, वे उसे देहाती और अशिष्ट भाषा कहते हैं, खड़ी बोली को संस्कृत के साँचे में ढाल कर साहित्यिक भाषा बनाने का स्तुत्य उद्योग किया। राष्ट्रीय भावों की जागृति ने भी इसमें बड़ी सहायता की।

आधुनिक काल के प्रारम्भ में प्रथम तो हिन्दी-गद्य विशेषरूप से उर्दू-गद्य के ही साँचे में ढाला गया क्योंकि उर्दू के राज-भाषा होने से उसके गद्य का रूप विशेष अच्छा था, व्यावहारिकता और विविध विचारों के प्रकाशन की क्षमता उसमें अधिक थी, किन्तु आगे चल कर खड़ी बोली का गद्य संस्कृत के ही आधार पर विकसित हुआ और फिर उस पर अँगरेज़ी का भी प्रभाव पड़ा जिससे उसमें स्पष्टता, धारावाहिकता और स्वाभाविकता भी आ गई।

गद्य-ग्रन्थ—पूर्व अध्यायों से यह प्रकट हो हो चुका है कि हिन्दी का सबसे प्रथम गद्य-ग्रन्थ और गद्य-लेखक सं० १४०० के लगभग मिलते हैं। महात्मा **गोरखनाथ** ही प्रथम गद्यकार माने गये हैं। इनके पश्चात् भक्तिकाल में गोकुलनाथ प्रमुख गद्य-लेखक हुए। उनकी दोनों वार्तायें उनके गद्य के उदाहरण हैं। ध्यान रखना चाहिए कि गोरखनाथ का तो गद्य प्रान्तीयतामय और गोकुलनाथ का शुद्ध व्रज-भाषा में है। व्रजभाषा-गद्य का उपयोग बढ़ न सका, केवल टीका-टिप्पणियों में ही उसका कुछ प्रयोग होता रहा और वह साहित्यिक रूप में विकसित भी न हो सका। चौदहवीं सदी में **खुसरो** ने खड़ी बोली के ठेठ प्रारम्भिक रूप में रचना की, जिसे देखकर मुसलमानों ने उर्दू और उसके साहित्य को विकसित किया। अकबर के समय में **गंग** कवि और सं० १६८० में **जटमल** ने खड़ी बोली के देशज रूप में, संस्कृत-शब्दों को प्रधानता देते हुए और कहीं

कहीं दरबारी भाषा की भी, जो फ़ारसी से प्रभावित थी, पुट लगाते हुए दो गद्य-ग्रन्थ लिखे। इस गद्य का भी प्रचार न हो सका। आधुनिक काल के प्रारम्भ में गद्य की दो मुख्य पुस्तकें, (मुं० सदासुखलाल-कृत सूरसागर, मौ० इन्शा-कृत रानी केतकी की कहानो) जिनमें खड़ी बोली का कुछ अच्छा रूप मिलता है, तैयार हुईं। अस्तु ये ही दोनों विशेष उल्लेखनीय हैं। सं० १८६० में कलकत्ता-फ़ोर्ट विलियम कालेज के अध्यापक पं० लल्लूलाल और सदल मिश्र ने प्रिन्सिपल गिलक्रिस्ट की आज्ञा से प्रेम-सागर और नासकेतोपाख्यान नाम की दो पाठ्य पुस्तकें लिखीं। इन दोनों की हिन्दी व्रजभाषा से प्रभावित है। हाँ मिश्रजी की भाषा में खड़ी बोली की कुछ विशेष पुट है, और प्रेमसागर में सतुकान्त और पंडिताऊ शैली की प्रधानता है। अस्तु हम कह सकते हैं कि **खड़ी बोली-गद्य के प्रमुख प्रवर्तक उक्त मुं० सदासुखलाल, मौ० इन्शाख़ाँ, पंडित लल्लूलाल और सदल मिश्र हैं**। इन लोगों ने तो हिन्दी-गद्य के रूप के स्थिर करने की ओर प्रयत्न किया है। वास्तव में हिन्दी-गद्य की अविरल धारा **राजा शिवप्रसाद** के ही समय से चलती है।

हिन्दी-गद्य और ईसाई—हिन्दी-गद्य के प्रचार में ईसाइयों ने भी अच्छा कार्य किया है किन्तु हिन्दी-हित की भावना से नहीं वरन् विशेषतया ईसाई-मत के प्रचार की ही इच्छा से। इन्होंने बाइबिल के हिन्दी में अनुवाद किये-कराये और उनका प्रचार किया। साथ ही इन्होंने प्रेस खोल कर पाठ्य पुस्तकों का भी कार्य करते हुए भिन्न भिन्न विषयों की आवश्यक पुस्तकें प्रकाशित कीं। बहुत ही

कम ऐसे अँगरेज़ और ईसाई हुए हैं जिन्होंने हिन्दी-हित के भाव से साहित्य-सेवा की है।

हिन्दी-गद्य के प्रवर्धन में इस समय दो मुख्य बाधायें उपस्थित थीं, एक तो यह थी कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने फ़ारसी के स्थान पर अपनी अदालतों में उर्दू को, उसे शिष्ट समाज की भाषा समझ कर जारी कर रक्खा था, जिससे जीविका और मान-मर्यादा के विचार से साधारण लोग उसी का विशेष पठन-पाठन करते थे और हिन्दी की ओर उपेक्षा की दृष्टि रखते थे। धार्मिक प्रभाव के कारण ही रामायण जैसी पुस्तकों के द्वारा हिन्दी साधारण समाज में पढ़ी जाती थी। कवियों और दूसरे लोगों में व्रजभाषा तथा ठेठ हिन्दी का व्यवहार होता था। दूसरी कठिनाई यह थी कि शिक्षा-विभाग आदि में मुसलमानों की ही प्रधानता थी, उन्हीं का बहुमत था। वे लोग दफ़्तरों और शिक्षा-विभाग में हिन्दी के सञ्चालन का सदैव विरोध किया करते थे और उसी हिन्दी की ओर कुछ ध्यान देते थे जो लिखी तो देवनागरी लिपि में जाती थी किन्तु रहती उर्दू ही थी। वे डरते थे कि हिन्दी के प्रचार से कहीं उनकी उर्दू दब न जाय।

ऐसी परिस्थितियों में हिन्दी का हित करनेवाले **राजा शिवप्रसाद** का नाम और उनका काम विशेष उल्लेखनीय एवं सराहनीय है।

राजा शिवप्रसाद C. S. I.—(जन्म-सं० १८८०, मृत्यु सं० १९५२) ये काशी के प्रसिद्ध वैश्य-कुल में उत्पन्न हुए। शिक्षा-

विभाग में इन्सपेक्टर रह कर इन्होंने मुसलमानों का विरोध होते हुए भी हिन्दी का अच्छा हित किया और इस आधार पर कि हिन्दी ही साधारण जन-समुदाय और देश के काव्य-साहित्य की भाषा होकर व्यापक है, देश का वास्तविक साहित्य, जिसमें उसकी सभ्यता और संस्कृति का पूरा प्रतिबिम्ब है, हिन्दी ही में है, उर्दू में नहीं, इसलिए हिन्दी ही को विशेष स्थान मिलना चाहिए, उसे शिक्षा-विभाग में जारी कराया। उन्होंने उर्दू को भी अदालती भाषा समझ कर जारी रहने दिया और दोनों के झगड़े को दूर करने के लिए, दोनों से मिली हुई एक उभयनिष्ठ भाषा का प्रचार प्रारम्भ किया। ऐसी ही भाषा में उन्होंने कई पाठ्य पुस्तकें भी तैयार कीं।

हिन्दी के विषय में इनका विचार—हिन्दी-गद्य के रूप पर राजा साहब का यह विचार था कि वह ऐसी हो जो साधारणतः सर्वत्र प्रचलित हो और जिसमें फ़ारसी आदि के परम प्रचलित और परिचित शब्द या पद भी आ सकें। हाँ रहे वह चलती हुई ठेठ हिन्दी ही। किन्तु उनकी कुछ पुस्तकों से यह भी ज्ञात होता है कि उच्च साहित्य के लिए वे संस्कृत-प्रभावित हिन्दी को ही उपयुक्त समझते थे। उनकी प्रथम की पुस्तकें ऐसी ही हिन्दी में हैं। हाँ बाद की पाठ्य पुस्तकों में हिन्दी प्रायः उर्दू ही सी हो गई है। यह कदाचित् उन पर पड़े हुए उर्दू-शिक्षित-समाज तथा अँगरेज़ अधिकारियों के सम्पर्क का ही प्रभाव था। सं० १९०२ में उन्होंने 'बनारस-अख़बार' निकाला, जिसकी हिन्दी उर्दू से ही प्रभावित थी।

राजा लक्ष्मणसिंह—इन्हीं के समान वरन् इनसे कुछ विशेष भी, उस समय के हिन्दी-हितैषियों में राजा लक्ष्मणसिंह का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये सं० १८८३ में पैदा हुए, सं० १९०३ में डिप्टी कलेक्टर हुए, और सं० १९२७ में इन्हें राजा की उपाधि मिली। इन्होंने हिन्दी-गद्य का वर्तमान साहित्यिक और प्रौढ़ रूप स्थिर किया और स्वामी दयानन्द की ही हिन्दी को आदर्श रूप में रख कर उसे संस्कृत पर आधारित किया। वास्तव में ऐसी ही हिन्दी देश की प्रकृति, संस्कृति और सभ्यता के अनुकूल ठहरती है। बिना संस्कृत की सहायता के हिन्दी-साहित्य की प्रगति को दुस्साध्य समझ कर इन्होंने हिन्दी में संस्कृत की पर्याप्त पुट रक्खी। वस्तुतः यह ठीक भी है।

इनकी पुस्तकें—इनकी पुस्तकों में से **शकुन्तला-नाटक** (कालिदास-कृत) का हिन्दी-अनुवाद, **मेघदूत** और **रघुवंश** प्रधान हैं। वस्तुतः तीनों ही परम-प्रसिद्ध, प्रशंसनीय और सुन्दर हैं। शकुन्तला में गद्य-पद्य है, मेघदूत विविध छन्दों में लिखा गया है और उसी प्रकार रघुवंश भी है। शकुन्तला का इनसे अच्छा अनुवाद अब तक कोई नहीं कर सका। सच पूछिए तो वर्तमान साहित्यिक हिन्दी के सच्चे प्रवर्तक यही ठहरते हैं। सं० १९१८ में इन्होंने 'प्रजा-हितैषी' नाम का एक पत्र निकाला, जिससे साहित्यिक हिन्दी के प्रचार में बड़ी सहायता मिली।

यहाँ हम यह भी कह देना आवश्यक समझते हैं कि इस समय तथा इसके आगे भी समाचार-पत्र प्रायः उन्हीं लोगों के द्वारा

निकाले गये हैं जो हिन्दी के अच्छे लेखक और हितैषी थे और जिनका पत्र निकालने में यही उद्देश्य था कि हिन्दी के गद्य का रूप तथा उसकी शैली निश्चित होकर व्यापक रूप से प्रचलित हो।

यह हम प्रथम ही दिखला चुके हैं कि हिन्दी-गद्य के प्रचार में आर्यसमाज के धार्मिक आन्दोलन ने, जो स्वामीजी की कृपा से उठा, बड़ी सहायता मिली। आर्यसमाज ने संस्कृत के ग्रन्थ-रत्नों के भाषानुवाद प्रकाशित किये। स्कूल, कालेज, अनाथालय, गर्ल्स-स्कूल खोले और व्याख्यानों के द्वारा हिन्दी का विशद प्रचार किया। पंजाब और पश्चिमीय प्रान्तों में हिन्दी का जो प्रचार हुआ उसका श्रेय वास्तव में आर्यसमाज और उसके कार्यकर्ताओं को ही है। **पं० श्रद्धाराम** का नाम यहाँ विशेष उल्लेखनीय है। इनके द्वारा पंजाब में हिन्दी का बहुत बड़ा हित और प्रचार हुआ। इन्होंने कई पुस्तकें लिखीं, जिनमें से **आत्मचिकित्सा**, **धर्म-रक्षा**, **शतोपदेश** (दोहों में), अपना जीवन-चरित्र और **भाग्यवती** नाम का उपन्यास उल्लेखनीय हैं। सम्भवतः यही जीवन-चरित्र और यही उपन्यास हिन्दी के सबसे प्रथम जीवन-चरित्र और उपन्यास हैं। यह हरिश्चन्द्र के समकालीन थे और उन्हें हिन्दी का सर्वोच्च लेखक मानते थे।

युगान्तर-प्रारम्भ—अब तक में हिन्दी-गद्य का प्रचार-प्रस्तार ख़ूब होगया था और उसमें व्यापकता, व्यवहारोचित क्षमता तथा साहित्योचित सशक्त प्रतिभा भी आ गई थी। अस्तु, अब उसमें नवीन जीवन का डालना ही समीचीन हुआ।

बस इसी समय में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का युगान्तर उपस्थित करनेवाला कार्य प्रारम्भ हुआ।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म सं० १९०७ में काशी के प्रसिद्ध रईस बाबू गोपालचन्द अग्रवाल "गिरिधरदास" के यहाँ हुआ। इनके पिता स्वयमेव हिन्दी के प्रेमी और अच्छे कवि थे। पिता के शीघ्र मर जाने से इनका पठन-पाठन तो बन्द हो गया, किन्तु इनके विद्या-प्रेम और स्वाध्याय ने इनमें अच्छी योग्यता उपस्थित कर दी। व्रजभाषा के ये अन्तिम रत्न और खड़ी बोली के प्रथम इन्दु हुए। नाटक के क्षेत्र में वे सर्वाग्र-गण्य नाटककार और खड़ी बोली के काव्य-क्षेत्र में प्रथम कवीन्द्र हुए। सं० १९४१ में इनका स्वर्गवास हुआ।

साहित्यिक कार्य—अपनी बहुमुखी प्रतिभा से इन्होंने साहित्य के कई अंगों की स्तुत्य पूर्ति की। गद्य की भाषा को इन्होंने प्रौढ़, परिमार्जित तथा स्वच्छ करके उसका साहित्योचित रूप स्थिर किया, जिसे हिन्दी-संसार ने सहर्ष स्वीकार करके इन्हें गद्य का प्रधान प्रवर्तक माना। काव्य-साहित्य की प्रधान भाषा (व्रज-भाषा) का भी इन्होंने खड़ी बोली के समान संस्कार किया। उसमें से प्राचीन घिसे-घिसाये शब्दों को दूर कर नवीन समय और संसार के उपयुक्त नवीन भाव-पूर्ण शब्द रख दिये, जिनके कारण व्रज-भाषा और उसके काव्य में नवीन जीवन आ गया। भाषा-सुधार के साथ ही साथ इन्होंने साहित्य-प्रगति, काव्य-शैली, रचना-परिपाटी और विचार-धारा को भी नवीन मार्गों से चला-

कर नये क्षेत्रों की ओर प्रवर्तित कर दिया, जिससे देश और समाज के नवीन जीवन और प्राचीन साहित्य के बीच में पड़ा हुआ अन्तर या विच्छेद दूर हो गया और दोनों में सुन्दर सामञ्जस्य सा प्रतीत होने लगा।

हिन्दी के नाटकोपन्यास-साहित्य के उदय और विकास का भी श्रेय इन्हीं को है। साहित्यिक पत्रिकाओं के भी यही प्रमुख जन्मदाता हैं। इन्होंने अपने नाटकों और 'कवि-वचन-सुधा' नामी पत्रिका से दोनों का उदय किया। साथ ही सबसे बड़ा स्तुत्य कार्य इन्होंने अपने प्रोत्साहन-प्रभाव से हिन्दी-क्षेत्र में कतिपय नवीन और सराहनीय गद्य-लेखक नाटकोपन्यासकार तथा ब्रज-भाषा और खड़ी बोली दोनों के सुकवियों को पैदा करके किया। स्मरण रखने की बात है कि भारतेन्दु-काल में जितने भी लेखक हुए हैं सबने शुद्ध हिन्दी का ही उपयोग किया है। जिस प्रकार मुसलमानों के प्रभाव से हिन्दी में फ़ारसी के शब्द या मुहावरे आ गये थे उसी प्रकार अँगरेज़ों के प्रभाव से हिन्दी में अँगरेज़ी के भी शब्द और मुहावरे रूपान्तरित होकर आये हैं, किन्तु वे लाये गये हैं उन अँगरेज़ी-शिक्षित लेखकों के द्वारा जो भारतेन्दु-काल के बाद हुए हैं। भारतेन्दु बाबू ने भाषा और साहित्य में कतिपय नवीन बातों का संचार करते हुए भी ब्रजभाषा-काव्य की प्राचीन परम्परा (कवित्त, सवैयावाली मुक्तक काव्य-शैली-शृंगार और भक्ति-प्रेम की परिपाटी) को सुरक्षित और जारी रक्खा।

भारतेन्दु बाबू के गद्य की विशेषतायें—भारतेन्दु के समय से खड़ी बोली के गद्य में निम्नांकित उल्लेखनीय विशेषतायें आ गईं।

१—गद्य सुव्यवस्थित, संयत और प्रौढ़ होता हुआ, शिष्ट, स्वाभाविक और व्यापक हो चला।

२—उसमें सजीवता, स्पष्टता और धारावाहिकता आगई।

३—फ़ारसी आदि के प्रभाव से वह सुरक्षित रहकर अपने शुद्ध रूप में रहा।

४—उसमें विषयानुकूल शैली-वैचित्र्य और सबलता का भी उदय हुआ।

५—नियंत्रित होकर वह एकरूपता से स्थिर हो चला। मुहावरों के उपयोग से उसमें चलतापन और सारल्य भी आया।

६—व्यंग्य और भावपूर्ण होकर वह रोचक हो चला।

इन विशेषताओं के साथ उस समय से तीन प्रमुख शैलियों का विकास हो चला:—१—**साधारण**—जिसमें सुबोध और बोलचाल की सरल भाषा की प्रधानता रहती है। २—**साहित्यिक**—जो उच्च कोटि के साहित्य में प्रयुक्त होती है और जिसमें संस्कृत-पदावली के साथ गाम्भीर्य, अर्थ-गौरव और प्रौढ़ वाक्य-विन्यास रहता है। ३—**भावात्मक औपन्यासिक**—जिसमें सरल, स्पष्ट और सरस छोटे वाक्य रहते हैं। हाँ वस्तु-वर्णन या तथ्य-निरूपण में भाषा कुछ अवश्य ही उन्नत रहती है।

भारतेन्दु के ग्रन्थ—भारतेन्दु ने बहुत से ग्रन्थों की रचना की। उनके नाटकों में से कुछ तो अनुवाद हैं और कुछ मौलिक। इनमें से विशेष उल्लेखनीय नाटक हैं:—कर्पूरमंजरी, सत्यहरिश्चन्द्र, भारतदुर्दशा, मुद्राराक्षस तथा अन्धेरनगरी। संग्रह-ग्रन्थों में सुन्दरी-तिलक सुन्दर और सुरुचिपूर्ण है।

साहित्य-वृद्धि—भारतेन्दु का समय वह समय है जब से हिन्दी-गद्य और हिन्दी-साहित्य का सच्चा विकास प्रारम्भ होता है। इसी समय से विविध विषयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित होचला, विविध विषयों की रचनायें हो चलीं और उनके उपयुक्त हिन्दी में भिन्न भिन्न प्रकार की गद्य-शैलियों का भी उदय हो चला। इस विकास में विविध विषय-पूर्ण गद्यप्रधान अँगरेज़ी और बँगला-साहित्य से बड़ी सहायता मिली। हम पहले ही दिखला चुके हैं कि देश के विविध आन्दोलनों, समाचार-पत्रों और शिक्षा-विभाग के पाठ्य ग्रन्थों का बड़ा गहरा प्रभाव भाषा और साहित्य पर पड़ा।

भारतेन्दु के प्रयत्न से अब गद्य में, जैसा हम लिख चुके हैं, विविध-विषय-प्रकाशन-क्षमता, स्थिरता और व्यापकता आगई थी। साथ ही उस समय उनके प्रोत्साहन से एक लेखक-मंडल सा भी बन गया था; जिसमें अच्छे और प्रतिभावान् लेखक थे। पंडित बदरीनारायन चैाधरी, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० भीमसेन शर्मा, लाला श्रीनिवासदास, बाबू तोताराम, राधाचरण गोस्वामी, ठाकुर

जगमोहनसिंह और पं० केशवदास भट्ट आदि ने गद्य में उपन्यास, नाटक, गद्य-काव्य और निबन्ध आदि की रचना की। इनकी मनोरंजक रचनाओं से गद्य तो परिमार्जित, शिष्ट और साहित्योचित हो ही गया, पठित समाज का भी ध्यान हिन्दी-हित में लगने लगा। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के लिए जो प्रबल प्रयत्न किया गया उससे अँगरेज़ी-पठित जनता भी प्रभावित हुई और उसने भी हिन्दी-क्षेत्र में काम करना प्रारम्भ कर दिया। हाँ एक विशेष बात यह अवश्य हुई कि इन लोगों ने साहित्य-वृद्धि में सहयोग तो दिया किन्तु गद्य में अँगरेज़ी और संस्कृत आदि का प्रभाव उपस्थित कर उसमें कुछ रूपान्तर और परिवर्तन भी कर दिया। बँगला भाषा के उपन्यासादि के अनुवादों से भी उसके शब्द, पद एवं प्रयोगादि भी हिन्दी में अनुवादित होकर आ गये, जिससे हिन्दी की विशद भाव-प्रकाशिनी शक्ति तो बढ़ी किन्तु उसकी शुद्धता को कुछ धक्का भी पहुँचा। निष्कर्ष यह है कि हिन्दी में मुख्यतः दो विशेषतायें आ गईं:—१—संस्कृत और बँगला के भाव-पूर्ण सुन्दर शब्दों या पदों से भाषा की एक विशिष्ट शिष्ट-परम्परा चल पड़ी, २—अँगरेज़ी के प्रभाव से कुछ नये प्रयोग और विराम आदि चिह्न भी इसमें प्रयुक्त होने लगे।

एक विशेष बात इस समय यह और हुई कि गद्य के नवोदय काल में व्याकरण की जो अवहेलना की गई थी वह इस काल से दूर हो चली और अब गद्य व्याकरणानुकूल परिमार्जित और स्वच्छ हो चला जिससे उसमें एकरूपता और स्थिरता भी आ

चली। इसे शुद्ध साहित्योचित रूप देने और व्याकरण-संयत करने में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सराहनीय प्रयत्न किया। प्रथम तो भाषा-व्याकरण की पुस्तकें लिखी ही न जाती थीं। यह एक नियम सा है कि व्याकरण की आवश्यकता उन्हीं को होती है जो भाषा से पूर्ण परिचित नहीं होते, उनको अधिक नहीं होती जिनकी वह भाषा होती है। उन्हें तो केवल उसके साहित्यिक रूप से ही परिचय प्राप्त करना पड़ता है और इसमें भी उन्हें बहुत सुविधा और सरलता रहती है। अँगरेज़ों को हिन्दी से परिचित होने के लिए व्याकरण की महती आवश्यकता थी। उन्हीं के प्रयत्न से व्याकरण की पुस्तकें भी तैयार हुईं। फिर शिक्षा-विभाग ने उनका विकास-प्रकाश अधिक किया।

इस काल के पूर्वार्द्ध के पश्चात् खड़ी बोली, हिन्दी और नागरी आदि का विवाद भी चला, जिससे भाषा-विकास में बड़ी सहायता मिली और हिन्दी के विविध रूपों की छानबीन हुई जिससे साहित्यिक रूप में स्थिरता आई। यह अवश्य हुआ कि भाषा के रूप कुछ भिन्न से हो गये। इसी समय में गद्य-काव्योचित भाषा का अलंकृत रूप भी उठाया गया जिसका प्रभाव गद्य-काव्य पर तो विशेष न पड़ा, किन्तु खड़ी बोली के काव्य पर बहुत अधिक पड़ा और खड़ी बोली का काव्य भी विकसित हो चला। अस्तु अब हम आगे साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों की सूक्ष्म और मार्मिक विवेचना करते हैं।

काव्य-साहित्य—इस काल में गद्य के प्राधान्य और प्रचुर प्रचार से काव्य में कुछ शिथिलता सी आगई। अब काव्य में मुख्यतया दो परम्परायें (पद्धतियाँ) चल पड़ीं। पहली तो ब्रज-भाषा की पुरानी मुक्तक-पद्धति है जिसका प्रचार कुछ राजदरबारों और अन्य प्राचीन कवियों या कवि-मंडलों में था। दूसरी खड़ी बोली की नई काव्य-पद्धति है जिसका उदय और विकास इसी काल में हुआ और जिसका प्रचार नवीन हिन्दी-क्षेत्र में रहा। भारतेन्दु बाबू के समय से काव्य-साहित्य-सम्बन्धी पत्रिकायें भी निकलने लगीं। यह भी ज्ञात होता है कि इस समय काव्य का उद्देश्य विशेष-तया मनोरञ्जन ही रह गया था। कतिपय स्थानों में कवि-मंडल स्थापित हुए और समस्या-पूर्ति का ही विशेष प्रचार हुआ। कुछ सज्जनों ने ब्रज-भाषा और खड़ी बोली दोनों में रचनायें कीं और कुछ काव्य-ग्रन्थ भी लिखे। काव्य-रक्षा के विचार से संग्रह-ग्रन्थ भी तैयार किये गये। खड़ी बोली-काव्य को यदि नवयुवकों और पत्र-पत्रिकाओं से सहायता मिलती थी तो ब्रजभाषा-काव्य को राज-दरबारों और साधारण जनता से। खड़ी बोली के प्रचार से ब्रजभाषा कुछ असुबोध सी अवश्य हो रही थी किन्तु संस्कृति के प्रभाव से उसका लोप न हो सका, साथ ही उसके प्रेमियों ने भी उसकी बहुत रक्षा की। यह अवश्य हुआ कि उसमें कुछ विकार और रूपान्तर आ गया, और उसमें प्रान्तीयता की पुट भी लग गई, तो भी उसका प्रचार बना ही रहा और रत्नाकरजी जैसे विद्वानों ने उसे शुद्ध करते हुए स्थिरता देने में आगे स्तुत्य प्रयत्न किया।

जय-काव्य—देश में अब सर्वत्र शान्ति थी। अस्तु इस काल में जय-काव्य-रचना का सर्वथा लोप ही सा हो गया। हाँ देहातों में आल्हागान का अवश्य प्रचार रहा और इसी लिए कुछ लोगों ने आल्हा-शैली से रामायण आदि की कथायें भी साधारण लोगों के लिए लिखीं। उनमें साहित्यिक क्षमता विशेष नहीं है अतः वे उल्लेखनीय भी नहीं हैं। यहीं हम काव्य-क्षेत्र की प्रधान रचना-शैलियों का भी उल्लेख कर देना ठीक समझते हैं।

रचना-शैलियाँ—इस समय **कवित्त-सवैयात्मक मुक्तक-शैली** तो विशेष प्रबल रही, किन्तु इसके साथ ही साथ **दोहात्मक सतसई-शैली** और नीति-काव्य की **कुंडलिया-शैली** का भी अच्छा प्रचार रहा। न्यूनाधिक रूप में मध्य काल की दूसरी शैलियाँ भी प्रचलित रहीं। अब तक हिन्दी में प्रायः मात्रिक छन्दों की ही विशेषता रहती थी, कला-काल में कवित्त, सवैया, ही विशेष प्रिय और प्रचलित हुए। इस काल में आगे चल कर संस्कृत के वर्णिक वृत्तों का अच्छा प्रचार हुआ क्योंकि खड़ी बोली के शुद्ध संस्कृत-रूप का उपयोग इन वृत्तों में भले प्रकार हो सकता है। आगे चलकर बँगला के अनुकरण से उसके कुछ नवीन छन्द भी हिन्दी-काव्य में आ गये।

भक्ति-काव्य—कला-काल में भक्ति-काव्य कुछ शिथिल सा हो गया था। हाँ, देवी, देवताओं के स्तवन-काव्य का अवश्य कुछ प्रचार हुआ जो इस काल में भी जारी रहा। इसका रूप सूक्ष्म और मुक्तक काव्य का ही सा रहा। स्वामी दयानन्द के प्रभाव

से लोक-रुचि और विचार-धारा बदल चुकी थी जिससे कृष्ण-काव्य में बड़ी शिथिलता आ गई थी। फिर भी कुछ रूपान्तर के साथ वह चलता ही गया। कवियों ने राधा-कृष्ण को काव्य-साधन के रूप में लेकर अपनी अनुभूति-व्यंजनाओं और सरस भावनाओं को प्रकाशित करते हुए काव्य-कौशल के साथ कुछ लीलात्मक मुक्तक काव्य रचे और कुछ भक्तों ने तीर्थ-स्थानों, पवित्र नदियों एवं पवित्र पुस्तकों आदि पर महिमा-काव्य की भी रचना की। राधा-कृष्ण के नखशिख एवं ऋतु-वर्णन की भी परिपाटी चलती रही।

राम-काव्य—कृष्ण-काव्य की अपेक्षा राम-काव्य की ओर, जो कला-काल में लुप्त सा हो गया था, विशेष ध्यान गया। इस क्षेत्र में राजा 'रघुराजसिंह', बाबा रामसनेही, जानकीशरण ही जैसे कवि विशेष उल्लेखनीय हैं।

राजा रघुराजसिंह—ये रीवाँ-नरेश, प्रसिद्ध कवि महाराज विश्वनाथसिंह के पुत्र थे। इनका जन्म-सं० १८८७ और राज्य-तिलक-सं० १९११ हैं। यह बड़े ही विद्याव्यसनी, उदार, सौम्य और सरल प्रकृति के थे। इन्होंने छोटी-बड़ी बहुत सी पुस्तकें लिखीं, जिनमें से सुन्दरशतक, भक्तिविलास, रामस्वयंवर, रघुराजविलास, भागवतभाषा, हनुमतचरित, रुक्मिणी-परिणय आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। कृष्ण-काव्य में जिस प्रकार की रचनायें जिन शैलियों में हुई हैं उन्हीं शैलियों में उसी प्रकार इन्होंने भी राम-काव्य के लिखने में अच्छा प्रयत्न किया। महिमा-काव्य,

चरित-काव्य एवं कुछ कृष्ण-काव्य भी इन्होंने लिखा। इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। कहते हैं कि इनके नाम से इनके दरबार के कई कवियों ने भी कई पुस्तकें लिखी हैं।

बाबा रामसनेही अयोध्या में रामानन्दी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध महन्त देवीदास के शिष्य थे। सं० १९११ में इन्होंने **विश्रामसागर** रचा, जिसके प्रथम खण्ड में पौराणिक कथायें, भक्त-वरों का वर्णन, द्वितीय में कृष्ण-चरित्र, और तृतीय में राम-चरित्र, दोहा-चौपाई की शैली से लिखा गया है। भाषा में अवधी की ही प्रधानता है। रचना भी सुन्दर और विशद है।

कुछ कवियों ने राम-सीता का नखशिख, हनुमान-स्तुति, चित्रकूटमाहात्म्य आदि स्फुट रचनायें कीं और कुछ ने वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायण के अनुवाद किये। कुछ ने राम-कृष्ण-लीला से सम्बन्ध रखनेवाले लीलाप्रधान नाटक भी रचे और कुछ ने लीलात्मक काव्य भी रचा। कुछ ने तुलसी के समान कवितावली और दोहावली की रचना की और कुछ ने विनयपत्रिका आदि की टीकायें लिखीं।

ज्ञानात्मक काव्य—यह भक्ति-काव्य के सम्मुख प्रथम ही दब चुका था क्योंकि इसमें ज्ञान का आभास-मात्र था, ज्ञान न था। इसके लेखक भी विद्वान् कवि न थे। धार्मिक आन्दोलन से इस समय कुछ कवियों ने आध्यात्मिक ज्ञान पर भी कुछ रचनायें कीं किन्तु वे विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं। यह कहना भी यहाँ असं-गत न होगा कि इस काल में स्वामीजी के प्रभाव से उपनिषदों और

शास्त्रों के गद्य में अनुवाद भी हुए। स्वामी **तुलसीराम**, पं० **लेख-राम** और **कृपाराम** के नाम यहाँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

कथा-काव्य—यह लिखा जा चुका है कि प्रथम कथा-काव्य के दो रूप थे। **पौराणिक** कथा और **प्रेमात्मक काल्पनिक कथा**। प्रथम में तो धार्मिक आदर्शवाद की और द्वितीय में आध्यात्मिक रहस्यवाद के साथ प्रेम-कल्पना की पुट थी। प्रथम को तो हिन्दुओं ने और द्वितीय को मुसलमानों ने विशेष विकसित किया। इस काल में द्वितीय तो लुप्तप्राय ही सा हो गया, हाँ प्रथम की कुछ साधारण रचना हुई और पुराणों की ललित लीलायें लिखी गईं, कुछ पुराणों के अनुवाद भी हुए।

चरित्र-काव्य—इसके तीन मुख्य रूप मिलते हैं:—१—**पौराणिक चरित्र** (ध्रुव, सुदामा, प्रह्लाद आदि के), २—**ऐतिहासिक** (दयानन्द आदि के), ३—**काल्पनिक** (आदर्श चरित्र)। तीनों में साधारण रचनायें हुईं जो विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं। आगे चलकर चरित्र-काव्य के स्थान पर गद्य में जीवन-चरित्र लिखे जाने लगे, और प्रेमात्मक काव्य के स्थान पर उपन्यास-साहित्य रचा जाने लगा।

नीति-काव्य—नीति-काव्य की भी रचना साधारण रूप में होती रही। इसमें कुंडलिया-शैली की प्रधानता रही। कोई भी कुशल कवि इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय नहीं। कुछ लोगों ने चाणक्य और विदुर आदि नीति के अनुवाद भी किये।

अलंकृत-काव्य—कला-काल में यह काव्य बड़े बल-वेग के साथ रचा गया और कई सुन्दर रीति-ग्रन्थ लिखे गये। इस काल में यह शिथिल सा हो गया क्योंकि गद्य का प्राधान्य हुआ। संस्कृत के साधारण रीति-ग्रन्थों के अनुवाद तो किये गये, किन्तु उनमें उल्लेखनीय मौलिकता नहीं है। आगे चलकर चूँकि अलंकार-विषय पाठ्य-क्रम में भी आ गया इसलिए उसमें भी गद्य का उपयोग हुआ और इस प्रकार रीति-ग्रन्थों की रचना रूपान्तरित होकर गद्यात्मक हो गई। हाँ कतिपय लेखकों ने लक्षणों और उदाहरणों को पद्य ही में रखते हुए विवेचन और स्पष्टीकरण को ही गद्य में रक्खा।

कला-प्रधान काव्य की दशा भी दीन हो गई। केवल प्राचीन परिपाटी के कुछ ही कवि इस शैली की कविता लिखते रहे। खड़ी बोली के कवियों ने इसे विशेष रूप से नहीं अपनाया। रीति-ग्रन्थकारों में से उल्लेखनीय हैः—**गुलाबसिंह**, जिन्होंने २२ ग्रन्थ रचे, उनमें से **वनिता-भूषण**, व्यङ्गार्थ-चन्द्रिका एवं ललितकौमुदी प्रधान हैं।

लछिराम (जन्म-सं० १८९८)—इनका स्थान इस समय के रीति-ग्रन्थकारों में ऊँचा है। इन्होंने कई ग्रन्थ रचे, जिनमें से रावणेश्वर कल्पतरु (अलंकारग्रन्थ) और महेन्द्रभूषण प्रधान हैं।

द्विज बलदेव (जन्म-सं० १८९७)—ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण व्रजलाल के पुत्र थे। ये समस्या-पूर्ति अच्छी करते थे। इनके ग्रन्थों में से **प्रताप-विनोद** (काव्य-शास्त्र का ग्रन्थ) ही उल्लेखनीय है।

जगन्नाथप्रसाद भानु रायसाहब (जन्म-सं० १९१६)—ये मध्य-देश में सेटिलमेण्ट आफ़िसर थे। अब पेंशन पा रहे हैं और काव्य-शास्त्र के विद्वान् कवि हैं। इन्होंने कई सुन्दर ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें से **छन्दःप्रभाकर और काव्य-प्रभाकर, काव्यालंकार** विशेष उल्लेखनीय हैं।

कन्हैयालाल पोद्दार—इन्होंने संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर अलंकार-प्रकाश और **काव्यकल्पद्रुम** नामक काव्य-शास्त्र के दो सुन्दर गद्य-ग्रन्थ लिखे।

लाला भगवानदीन—ये काशी-विश्व-विद्यालय के विद्वान् प्रोफ़ेसर थे। हिन्दी, उर्दू और ब्रज-भाषा तीनों में रचना करते थे। आपने कई पुस्तकें लिखी हैं और केशव के ग्रन्थों की टीकाएँ भी की हैं। काव्य-शास्त्र के आप अच्छे विद्वान् थे। आपके ग्रन्थों में से **अलंकार-मंजूषा, नदीने दीन, सूक्तसुधा** विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त **अर्जुनदास केडिया** का भारती-भूषण और हमारा **अलंकारपीयूष** यहाँ और उल्लेखनीय हैं।

इस काल में पिंगल-सम्बन्धी भी कई ग्रन्थ निकले, जिनमें से छन्दःप्रभाकर (भानु-कृत), छन्दपयोनिधि (कन्हैयादास-कृत) उल्लेखनीय हैं। पिंगल की बालोपयोगी पुस्तकों में से सरस-पिंगल (रामचन्द्र शुक्ल सरस-कृत) ही उल्लेखनीय है।

अलंकृत या कलापूर्ण काव्यकारों में से पं० **प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, राय देवीप्रसाद पूर्ण, वियोगी-**

हरि, बा० **जगन्नाथदास रत्नाकर, श्रीधर पाठक, सत्यनारायण** कवि-रत्न, **अयोध्यासिंह** उपाध्याय, लाला **भगवानदीन** और **पं० नाथूराम** शंकर विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका परिचय हम आगे देंगे।

कविता की नवीन धारा—यह हम पहले ही कह चुके हैं कि इस काल में भारतेन्दु ने काव्य-रचना-शैली और विचार-धारा को देश-काल की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल रूपान्तरित करके नवीन ढंग से प्रचलित कर दिया था और खड़ी बोली के काव्य को प्रगति-शील भी कर दिया था। अस्तु इस समय भाषा-भेद से काव्य और कवि-समुदाय भी तीन श्रेणियों में विभक्त हो गये। १—**प्राचीन परम्परानुयायी** व्रज-भाषा के कवि और उनके काव्य, २—**शुद्ध खड़ी बोली के नवोदित कवि और उनके काव्य**, ३—**मिश्रित भाषा के कवि और काव्य**। इनके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी रहे जो कवि और गद्य-लेखक दोनों थे। गद्य में तो वे खड़ी बोली का और पद्य में व्रज-भाषा का उपयोग करते रहे। यहाँ यह कहना भी असंगत नहीं है कि भारतेन्दु बाबू ने व्रज-भाषा में भी कुछ नवीन परिष्कार किया था। १—उन्होंने उन सुन्दर शब्दों को फिर से प्रचलित किया जिनका प्रयोग शिथिल-सा हो चला था और जो साहित्यिक परम्परा से दूर होकर लुप्त-प्राय से हो चले थे। २—उन शब्दों को उन्होंने निकाल दिया जो जनता की तो विस्मृति में आ गये थे किन्तु जिनका उपयोग परम्परा-पालन के लिए ही कुछ कवि करते जाते थे। उनके स्थान

पर नवीन भाव-पूर्ण शब्दों की योजना की। ३—शब्दों के रूपान्तरित करने की जो नियंत्रित प्रथा व्रज-भाषा के कवियों ने चलाई थी और जिसका दुरुपयोग करते हुए साधारण कवियों ने गड़बड़ी पैदा कर दी थी उसके सुधार करने का भी प्रयत्न किया। ४—कवि-समाज खोलकर कवियों को प्रोत्साहन देते हुए व्यवस्थित रूप से उन्हें काव्य-रचना की ओर प्रवृत्त किया। जो कवि यहाँ विशेष उल्लेखनीय हैं वे हैं:—

पं० प्रतापनारायण मिश्र—प्रतिभावान कवि, सम्पादक, नाटककार और लेखक थे, इन्होंने अपने "ब्राह्मण" पत्र के द्वारा हिन्दी का विशेष प्रचार करते हुए गद्य की हास्य-रस-सिंचित व्यंजनापूर्ण, लौकिक मुहावरों से सुप्रभावित चलती हुई मनोरंजक शैली का प्रचार किया। इनके गद्य में कहीं कहीं ग्रामीण भाषा की भी पुट पाई जाती है। हाँ हिन्दी रहती बहुत ही शुद्ध है। काव्य में ये बैसवाड़ी-प्रभावित व्रज-भाषा ही रखते थे। वाक्य-विन्यास इनका सीधा-सादा और स्वच्छ रहता था। पदावली इनकी सरस, भावपूर्ण और सुव्यवस्थित रहती थी। इन्होंने १६ पुस्तकें लिखीं, जिनमें से १२ पुस्तकें बङ्गला से अनुवादित हैं, उनमें से ५ तो नाटक हैं और शेष काव्य-पुस्तकें हैं। अनुवादित पुस्तकों में से **इन्दिरा**, **युगुलांगुलीय**, **राधारानी**, **नीति-रत्नावली**; नाटकों में **कलि-कौतुक**, **गोसंकट**, **भारत-दुर्दशा** और काव्यों में से **प्रेमपुष्पांजलि**, **लोकोक्तिशतक** और **शृंगारविलास** अवलोकनीय हैं। **रसखानशतक** और **प्रताप-संग्रह** भी इन्होंने तैयार किये।

अम्बिकादत्त व्यास—संस्कृत के विद्वान् और ब्रज-भाषा के सुकवि थे। ये समस्या-पूर्ति में भो बड़े दक्ष थे, इन्होंने कई पुस्तकें रचीं और गद्य-काव्य की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। इनके **बिहारी-बिहार, गद्य-काव्य-मीमांसा** विशेष उल्लेखनीय हैं।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'—ये कानपुर के प्रसिद्ध नागरिक और सुकवि थे। इनका काव्य कलाकौशल-पूर्ण, प्रौढ़ और सुन्दर है। आपने मेघदूत का बहुत सुन्दर अनुवाद **धाराधर धावन** नाम से किया। इनकी स्फुट रचनाओं का एक संग्रह भी प्रकाशित हुआ है।

वियोगीहरि ब्रज-भाषा के सुकवि और खड़ी बोली के अच्छे लेखक हैं। गद्य-काव्य भी आप बहुत अच्छा लिखते हैं। आपकी पुस्तकों में से अन्तर्नाद (गद्य-काव्य), और वीरसतसई (वीर-रस प्रधान काव्य) विशेष उल्लेखनीय हैं। आपने कुछ नाटक और नाटिकाएँ भी लिखी हैं। ब्रजमाधुरीसार नामक एक संग्रह-ग्रन्थ भी तैयार किया और कई पुस्तकों का सम्पादन भी किया।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध आचार्य और महाकवि हैं। हरिश्चन्द्र के पश्चात् आप ही को हम ब्रज-भाषा के कवियों में सर्वोच्च स्थान देते हैं। आपने ब्रज-भाषा को साहित्योचित एकरूपता देकर परिष्कृत और संयत किया। आपकी काव्य-पुस्तकों में से **गंगावतरण, हरिश्चन्द्र** और **उद्धव-**

शतक स्तुत्य और अवलोकनीय हैं। बिहारी सतसई का एक सुन्दर संस्करण भी आपने संपादित कर प्रकाशित किया है।

श्रीधर पाठक ने व्रज-भाषा में नवीन विषयों का संचार करते हुए सुन्दर और उत्तम रचना की है। इनकी भाषा प्रौढ़, परिष्कृत और सरस है। हाँ कहीं कहीं समासबहुला शैली और जटिल वाक्य-विन्यास भी अवश्य हैं। इनकी पुस्तकों में से भारत-गीत, और ऊजड़ गाँव (अँगरेज़ी के Deserted village के अनुवाद) विशेष उल्लेखनीय हैं।

सत्यनारायण कविरत्न व्रज-भाषा के भक्त और सुकवि थे। उक्त पाठकजी के समान इन्होंने भी नवीन भावों और विचारों का समावेश अपनी रचना में किया है। इनकी कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है। इन्होंने मालती-माधव और उत्तर रामचरित्र के सुन्दर अनुवाद किये।

अयोध्यासिंह उपाध्याय खड़ी बोली के विद्वान्, महाकवि और लेखक हैं। खड़ी बोली, उसकी शैलियों, और मुहावरों आदि पर आपका पूरा अधिकार है। आपने व्रज-भाषा में भी सराहनीय रचना की है। आपकी प्रतिभा बहुमुखी है। इनकी पुस्तकों में से **प्रिय-प्रवास** (अतुकान्त शैली से लिखा हुआ खड़ी बोली का सर्वोत्तम काव्य), चोखे चौपदे और बोल-चाल (बा-मुहावरा खड़ी बोली के ठेठरूप का सुन्दर काव्य-ग्रन्थ), अधखिला फूल और ठेठ हिन्दी का ठाठ विशेष उल्लेखनीय हैं।

नाथूराम शङ्कर खड़ी बोली के प्रसिद्ध सुकवि हैं। पहले इन्होंने व्रज-भाषा में भी अच्छी रचना की है। कहीं कहीं इनकी पदावली कुछ कर्ण-कटु और नीरस सी हो जाती है। रचना अवश्य सराहनीय है। इनकी रचनाओं के स्फुट संग्रह और कुछ ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं।

इन लोगों के अतिरिक्त ठाकुर जगमोहनसिंह (मेघदूत के कवित्त-सवैयों में अनुवादक), नवनीत चौबे, पं० रामचन्द्र शुक्ल (बुद्ध-चरित्र लेखक) और मिश्र-बन्धु भी उल्लेखनीय हैं।

खड़ी-बोली-काव्य—अमीर खुसरो के समय से खड़ी-बोली काव्य का उदय माना जाता है क्योंकि उन्हीं ने पहले इसमें कुछ पहेलियाँ लिखी थीं। शीतल कवि ने भी खड़ी बोली में रचना की है। चूँकि खड़ी बोली का निर्माण बहुत कुछ उर्दू ढंग पर हुआ है इसलिए इसका उपयोग प्रथम उर्दू छन्दों में ही विशेष किया जाता था। वस्तुतः उक्त **श्रीधर पाठक** को ही शुद्ध साहित्यिक खड़ी बोली में सुन्दर काव्य के लिखने का श्रेय प्राप्त है। खड़ी-बोली-काव्य के विकास की तीन मुख्य धारायें हैं। प्रथम में उर्दू छन्दों के द्वारा इसमें काव्य-रचना हुई। थोड़े समय के पश्चात् उर्दू ढंग की लावनी और ख्याल जैसे छन्दों में लोग खड़ी बोली की कविता लिखने लगे। यह परिपाटी श्रीधरजी के समय तक चलती आई। उन्होंने भी एकान्त वासी योगी नामक पुस्तक इसी शैली से लिखी है। पाठकजी ने अपने श्रान्त पथिक (Gold Smith के Traveller के अनुवाद (में रोला छन्द

रखते हुए परिमार्जित खड़ी बोली का उपयोग किया और इस प्रकार एक नया मार्ग दिखलाया। सवैयों में भी इसका उपयोग उन्होंने सफलता से किया।

इनके बाद पं० **अयोध्यासिंह** उपाध्याय ने खड़ी बोली और उसके काव्य का अच्छा संस्कार किया। इन्होंने दो स्वतंत्र मार्ग निकाले। १--उर्दू छन्द पर आधारित **चौपदा शैली**, जिसमें खड़ी बोली अपने नागरिक या बोल-चाल के ही रूप में रहती है। वह साफ़-सुथरी और बा-मुहावरा रहती है और इसी लिए उर्दू छन्दों के बहुत उपयुक्त ठहरती है। २—संस्कृत की **वर्णिक वृत्ति-शैली** जिसमें साहित्यिक खड़ी बोली का वह उत्कृष्ट, प्रौढ़ और शुद्ध संस्कृत रूप रहता है, जो वर्णिक वृत्तों के लिए अति उपयुक्त है। इस शैली का उदय यद्यपि बहुत पहले ही हुआ था किन्तु इसका विकास इसी समय में विशेष हुआ। **पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी** ने ही इसे पर्याप्त प्रोत्साहन देते हुए प्रचलित किया। वे ही इस शैली के मुख्य प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। उन्हीं की देखा-देखी उपाध्यायजी ने संस्कृत-पदावली-युक्त प्रौढ़ खड़ी बोली में समास-बहुला रीति से अतुकान्त वर्णिक वृत्तों में अपना प्रसिद्ध **प्रिय-प्रवास** सं० १९७१ में लिखा, जो कृष्ण-काव्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। अपनी प्रथम शैली से इन्होंने चुभते चौपदे और बोल-चाल नामक पुस्तकें लिखी हैं।

इनके पश्चात् **पं० नाथूराम शंकर** ने खड़ी बोली के काव्य का प्रचार किया और भाषा में व्यंगात्मक पुट और स्वनिर्मित विलक्षण शब्दों की योजना भी रख दी।

द्विवेदी जी को खड़ी-बोली-काव्य के विकास में बहुत बड़ा श्रेय दिया जाता है, यद्यपि वे कवि नहीं और उन्होंने काव्य भी नहीं रचा किन्तु पथ-प्रदर्शन अवश्य कराया है। गद्य-पद्य दोनों में एक ही भाषा का रखना उन्हीं का मत है, किन्तु ऐसा करने में उन्हें और उनके अनुयायियों को यथेष्ट सफलता नहीं मिली, काव्य की भाषा अलंकृत और कलापूर्ण हो ही गई है।

द्विवेदीजी के प्रभाव से पद्यात्मक गद्य (Versified prose) तथा इति वृत्तात्मक (Mater of fact) काव्य-रचना का विशेष प्रचार हुआ। दोनों में यथेष्ट सरसता और मनोरंजक सुन्दरता नहीं रहती। द्विवेदीजी के अनुयायी कवियों में से उल्लेखनीय हैं:—

बाबू मैथिलीशरण गुप्त—शुद्ध, साहित्यिक खड़ी बोली में रचना करनेवाले आप एक प्रसिद्ध कवि हैं। भाषा आपकी बहुत सुन्दर होती है। कहीं कहीं काव्य-कौशल और चमत्कार भी अच्छा मिलता है। आपने छोटी-बड़ी कई पुस्तकें लिखी हैं, बँगला के कुछ काव्य-ग्रन्थों का अनुवाद भी किया है। इनकी पुस्तकों में से **भारत-भारती** (जो सामयिकता लिये हुए अच्छी रचना है), **जयद्रथ-वध**, पंचवटी, किसान, विरहिणी ब्रजांगना और मेघनादवध विशेष उल्लेखनीय हैं।

पं० रामचरित उपाध्याय—संस्कृत के पंडित और हिन्दी के सुकवि हैं। इन्होंने विविध छन्दात्मक शैली से **राम-चरित चिन्तामणि** नामक राम-कथा का एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा है।

पं० लोचनप्रसाद पांडेय सुकवि और साहित्य-सेवी हैं। **मृग-दुख-मोचन** नामक कथा-काव्य की पुस्तक सवैया छन्दों में इन्होंने अच्छी लिखी है। इनके अतिरिक्त इस पथ पर चलनेवाले और भी कतिपय नवोदित कवि हैं।

उन लोगों में से जिन्होंने द्विवेदीजी के पथ से पृथक् रह कर सुन्दर रचनाएं की हैं विशेष उल्लेखनीय हैं:—

गयाप्रसाद शुक्ल "सनेही" (त्रिशूल) कानपुर के प्रसिद्ध कवि और "सुकवि" के सम्पादक हैं, ब्रज-भाषा तथा उर्दू-प्रभावित खड़ी बोली में सुन्दर रचना करते हैं। समस्या-पूर्ति करने में भी आप पटु हैं। राष्ट्रीय कवियों में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। "त्रिशूल" नाम से आपने राष्ट्रीय भावों की अच्छी कविता की है। इनकी खड़ी बोली तो बड़ी ओजस्विनी, उत्तेजक और ज़ोरदार होती है, किन्तु ब्रज-भाषा सीधी-सादी, भावपूर्ण और सरस ही रहती है।

रामनरेश त्रिपाठी खड़ी-बोली के सुकवि हैं। कई छोटी छोटी काव्य-पुस्तकें इन्होंने लिखी हैं, जिनमें से **पथिक** उल्लेखनीय है। मिलन और स्वप्न साधारण श्रेणी की रचनायें हैं। कविता-कौमुदी नाम से इन्होंने चार संग्रह-ग्रन्थ भी तैयार किये हैं।

रूपनारायण पांडेय ब्रज-भाषा में सुन्दर रचना करते हैं और सफल अनुवादक हैं। माधुरी और सुधा के सम्पादक भी रहे हैं। इनकी पुस्तकों में से दलित कुसुम, बनबिहंगम, और आश्वासन उल्लेखनीय हैं।

पं० अनूप शर्मा ब्रज-भाषा तथा मिश्रित बोली में वीर-रस की सबल और प्रौढ़ रचना करते हैं।

गोपालशरणसिंह—खड़ी बोली के कवियों में इनका स्थान अच्छा है। इनकी रचनाओं का संग्रह "माधवी" नाम से निकल चुका है। इनके अतिरिक्त **माखनलाल चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा**, जगदम्बाप्रसाद "हितैषी" आदि भी उल्लेखनीय हैं।

नवीन धारा—इधर कुछ समय से खड़ी बोली के काव्य-क्षेत्र में एक नवीन धारा का उदय हुआ है, जो पाश्चात्य रहस्यवाद (mysticism) के आधार पर उठी है, जिसे **छायावाद** कहते हैं। इसमें रहस्यात्मक सत्ता का, जिसमें अनन्त सौन्दर्य, असीम प्रेम और अपूर्व ज्ञानानन्द का आलोक है, आभास रहता है और आध्यात्मिक एवं दार्शनिक बातों की भी साधारण पुट रहती है। इस क्षेत्र में अभी तक सफल रचनाएँ नहीं हो सकीं। चूँकि छायावाद के क्षेत्र में कुछ ऐसे नवयुवक हैं जिन पर अँगरेज़ी और बँगला का विशेष प्रभाव है इसलिए भाषा इन्हीं दोनों भाषाओं के भावों, शैलियों और पदावलियों के अनुवादित रूपों से प्रभावित रहती है। भाषा कुछ अव्यवस्थित, भाव-कुण्ठित और अस्पष्ट सी भी रहती है। हाँ शब्द-संचयन मधुर और ललित रहता है। बँगला के प्रभाव से कुछ नवीन छन्द भी इस क्षेत्र में आ गये हैं और बेतुकी तथा मुक्त छन्द-रचनायें भी होती हैं। अन्योक्ति-पद्धति से लाक्षणिकता एवं अनुभूति-व्यंजना के साथ विशेषण-विपर्यय और विरोध-मूलक शैली से मूक अनुभूति, अतीत-स्मृति

और उस पार के प्रेम-सौन्दर्य के साथ वेदना की मंजुल धारा इसमें मिलती है और **पाश्चात्य प्रतीकवाद** (symlolis) की भी छाया रहती है। इस श्रेणी के कवियों में पं० **सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला", पं० सुमित्रानन्दन पन्त** और **बा० जयशंकरप्रसादजी** उल्लेखनीय हैं।

थोड़े ही दिनों से अँगरेज़ी के प्रकृति-चित्रण की सी एक परिपाटी भी चल पड़ी है। यद्यपि अभी इसका सफलतापूर्ण विकास नहीं हो सका।

राष्ट्रीय काव्य—भारतेन्दु बाबू ने तो इसका उदय किया और **पं० सत्यनारायण, श्रीधर पाठक** जैसे सुकवियों ने इसे विकसित किया। कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलन से इसे प्रोत्साहन और प्राबल्य मिला। देश-प्रेम, भाषानुराग आदि भावों को प्रधानता देकर ऐसी जोशीली कविता करनेवाले कवियों में से **पं० गयाप्रसाद शुक्ल** त्रिशूल, मैथिली बाबू, पं० माधव शुक्ल और "नरेश कवि" उल्लेखनीय हैं।

नाटक और उपन्यास—भारतेन्दु बाबू के समय से हिन्दी-क्षेत्र में जिस प्रकार अन्य विशेषताओं का विकास हुआ है उसी प्रकार नाटक-रचना में भी युगान्तरकारी कार्य हुआ है। इन्होंने स्वतः, जैसा लिखा जा चुका है, कई मौलिक नाटक लिखे और कई नाटकों के अनुवाद भी किये, साथ ही अपनी मंडली के अन्य योग्य लेखकों को भी प्रोत्साहित करके इस कार्य में लगा दिया। भारतीय नाट्य-शास्त्र को, जो संस्कृत में है, लेकर उन्होंने

हिन्दी में उसकी आवश्यक बातों को ला उपस्थित किया। इस समय तक नाट्य-शास्त्र पर कोई भी अच्छी पुस्तक न थी। उनके पश्चात् पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने **नाट्य-शास्त्र** नामक एक छोटी सी पुस्तक लिखी और बाबू **श्यामसुन्दरदास** ने अपने साहित्यालोचन के एक अध्याय में इस विषय पर सूक्ष्म प्रकाश डाला। हमने भी **नाट्य-निर्णय** नाम की एक पुस्तक इस विषय पर लगभग २५० पृष्ठों में लिखी है।

नाटक-रचना—इस काल में प्रथम नाटक-रचना का कार्य अनुवाद के रूप में ही हुआ। संस्कृत, बँगला और अँगरेज़ी के कतिपय सुन्दर नाटक अनुवादित किये गये। यह परम्परा न्यूनाधिक रूप से चलती हुई अब तक भी चली जा रही है। भारतेन्दु ने साहित्यिक और मौलिक नाटक-रचना का भी पथ दिखलाया और स्वयं मौलिक नाटक लिखे और लिखवाये। इसके साथ ही उन्होंने चम्पू, भाँड़, प्रहसन आदि के लिखने का भी मार्ग खोल दिया। यह भी ध्यान में रखने के योग्य है कि इस समय अँगरेज़ी राज्य के प्रभाव से देश में नाटक खेले भी जाने लगे थे। नाटक-कम्पनियाँ और मंडलियाँ भी तैयार हो गई थीं, जो नाटक लिखाकर खेलती थीं, किन्तु उनके नाटकों में साहित्यिक तत्व न रहता था। वे अभिनयोचित और साधारण जनता के लिए ही उपयुक्त होते थे इसी लिए उनकी भाषा और शैली साधारण और उर्दू-प्रभावित है। यही देखकर थोड़े ही समय में हिन्दी-हितैषियों ने शुद्ध हिन्दी के नाटक तैयार करके उनका खेलना प्रारम्भ किया।

थोड़े दिनों के पश्चात् जब उपन्यास-रचना की परम्परा बड़े बल-वेग से चलने लगी तब नाटक-रचना में कुछ शिथिलता आ गई। हाँ, इसके साथ कुछ काल के उपरान्त गद्य-काव्य की एक नवीन शैली चली और छोटी कहानियाँ अथवा गल्पें भी लिखी जाने लगीं जिनके कारण नाटक-रचना में कुछ और भी क्षीणता आ गई।

इस समय के प्रमुख लेखक हैं, जिन्होंने नाटकों के अनुवाद किये हैं और मौलिक नाटक और उपन्यास भी रचे हैं:—

बाबू तोताराम (जन्म-सं० १९०४) अलीगढ़ के वकील, और 'भारतबन्धु' पत्र के सम्पादक थे। इन्होंने केटो वृत्तान्त नाटक रचा।

लाला श्रीनिवासदास (जन्म-सं० १९०८) सुकवि, नाटककार और उपन्यासकार थे, इनकी भाषा तो साधारण और मुहावरेदार होती थी किन्तु शैली में अँगरेज़ी का प्रभाव रहता था। इन्होंने कई नाटक लिखे हैं जिनमें से **रणधीर-प्रेममोहिनी, संयोगिता-स्वयंवर,** और **परीक्षा-गुरु** उपन्यास विशेष उल्लेखनीय हैं।

राधाचरण गोस्वामी (जन्म-सं० १९१५) वल्लभीय सम्प्रदाय के अच्छे नाटककार, संपादक और उपन्यासकार हैं। इनके **सरोजिनी, विधवा-विपत्ति,** कल्पलता, सावित्री आदि नाटक और उपन्यास सराहनीय हैं।

खड्गबहादुर खड्गविलास प्रेस के संस्थापक और रईस हैं। इन्होंने धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय भाव लेकर १४ पुस्तकें लिखीं, जिनमें से ६ नाटक हैं। **भारत-आरत, कल्प-वृत्त, भारत-ललना, रसिकविनोद** विशेष उल्लेखनीय हैं।

अम्बिकादत्त व्यास (जन्म-सं० १९१५) बनारस-संस्कृत कालेज के विद्वान् प्रोफ़ेसर, आशुकवि और लेखक थे, हिन्दी और संस्कृत में इन्होंने ७८ पुस्तकें लिखीं। इनके **गो-संकट, मरहटा,** और **भारत-सौभाग्य** नाटक अवलोकनीय हैं।

यहाँ यह लिखना भी अप्रासंगिक नहीं है कि बँगला और अँगरेज़ी को देखकर हिन्दी में नाटक और उपन्यास अब सामाजिक, राष्ट्रीय, ऐतिहासिक और धार्मिक बातों के आधार पर लिखे जाने लगे और भाषा भी परिष्कृत की जाने लगी।

बदरीनारायण चौधरी (जन्म-सं० १९१२) हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और कवि थे। इन्होंने गद्य-काव्य की अलंकृत शैली चलाई। **नागरी-नीरद** और **आनन्द-कादम्बिनी** नामक मासिक-पत्र निकाले। ये भारतेन्दु के मित्र थे। इन्होंने कुल २९ पुस्तकें लिखीं। इनके **भारत-सौभाग्य, परांगना-रहस्य** नाटक, **वृद्ध-विलाप**, प्रहसन, शोकाश्रुबिन्द और भारत-भाग्योदय काव्य अवलोकनीय हैं। इनका विचार था कि गद्य को कला-कौशल-पूर्ण और व्यंग्य-वैचित्र्ययुक्त होना चाहिए। इनकी भाषा समास-बहुला, पेंचीली, अनुप्रासों से अलंकृत एवं गम्भीर होती थी। **कलम की**

कारीगरी लिखकर इन्होंने गद्य-काव्य की अलंकृत भाषा का प्रकाश किया।

रामकृष्ण वर्मा (जन्म-सं० १९१६) गद्य और पद्य दोनों में सुन्दर रचना करते थे। अपने भारत-जीवन प्रेस से इन्होंने **भारत-जीवन** पत्र निकाला, और १६ पुस्तकें लिखीं, जिनमें दो नाटक और शेष उपन्यास हैं। **अकबर** उपन्यास, **पुलिस-वृत्तान्तमाला**, **स्वर्णबाई**, **संसार-दर्पण** विशेष उल्लेखनीय हैं।

प० प्रतापनारायण मिश्र—इन्होंने **कलिकौतुक**, **हमीर-हठ**, **भारतदुर्दशा** जैसे ५ नाटक लिखे और बँगला की इन्दिरा आदि १२ पुस्तकों के अनुवाद किये। उन लेखकों में से, जिन्होंने संस्कृत-नाटकों के अनुवाद किये, विशेष उल्लेखनीय हैं:—

रा० ब० लाला सीताराम—आप डिप्टी कलेक्टरी से पेंशन पा रहे हैं। इन्होंने कालिदास के सभी प्रमुख ग्रन्थों के अनुवाद किये हैं। इनकी भाषा कुछ ग्रन्थों जैसे रघुवंश एवं कुमारसम्भव में, अवधी मिश्रित व्रजभाषा, और ऋतुसंहारादि में मिश्रित भाषा है। **मृच्छकटिक**, **महावीरचरित**, **उत्तर रामचरित**, **मालती-माधव** और **नागानन्द** आदि संस्कृत नाटकों के इन्होंने अनुवाद किये हैं। आप सुकवि और सुलेखक हैं।

पं० सत्यनारायण ने उत्तर रामचरित और मालती-माधव के सुन्दर अनुवाद किये। पद्य में तो व्रजभाषा का और गद्य में चलती हुई भाषा का प्रयोग किया है। मूल भावों की रक्षा

करने से भाषा कहीं कहीं जटिल और अव्यवस्थित सी होगई है।

विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र संस्कृत और हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान्, लेखक और वक्ता थे। इन्होंने यजुर्वेद का भाष्य किया और संस्कृत के कई महान् ग्रन्थों का भाषानुवाद किया। सीता-वनवास हिन्दी-नाटक भी इनका देखने के योग्य है।

गोपालराम (जन्म-सं० १९१२) ने बँगला के कई सुन्दर नाटकों और उपन्यासों के अनुवाद किये। नाटकों में **देश-दशा, विद्या-विनोद, चित्रांगद** (रवीन्द्र-कृत) उपन्यासों में **चंचला, भानुमती, नये बाबू** विशेष उल्लेखनीय हैं। ये थोड़ी सी कविता भी लिखते हैं।

प० रूपनारायण पांडेय ने द्विजेन्द्रलाल राय एवं अन्य बँगला-उपन्यासकारों के उपन्यासों के सुन्दर अनुवाद किये हैं। मौलिक रचना आपकी कम है।

इनके अतिरिक्त **देवीप्रसाद "पूर्ण"** (चन्द्रकला-भानुकुमार नामक उच्च कोटि के साहित्यिक कौशल-पूर्ण नाटक के लेखक), **गोपीनाथ पुरोहित** M. A. (Shakespear के Romeo Juliet और As you like it के अनुवादक) **राधाकृष्णदास** (महाराणा प्रताप नामी प्रसिद्ध नाटक-लेखक), किशोरीलाल गोस्वामी (प्रणयिनी परिणय नामक मौलिक नाटककार), जयशंकरप्रसाद (नवोदित नाटककार अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त के लेखक) भी उल्लेखनीय हैं। 'प्रसाद' जी ने नाटकों में पद्य और गान नहीं

रक्खे और अँगरेज़ी नाटकों के समान कुछ और भी नवीनता रक्खी है। नवीन लेखकों में से गोविन्दवल्लभ पन्त, पं० बदरीनाथ भट्ट, और जी० पी० श्रीवास्तव भी उल्लेखनीय हैं।

नाटकों की अपेक्षा हिन्दी के प्रचार तथा उसके गद्य के निखारने में उपन्यासों से बहुत बड़ी सहायता मिली है। उन उपन्यासों से जो अब तक लिखे गये थे हिन्दी-प्रचार और मनोरञ्जन ही हुआ था। अब बँगला की देखादेखी सामाजिक, पारिवारिक और ऐतिहासिक विषयों पर भी उपन्यास रचे जाने लगे, जिससे समाज को विशेष लाभ हुआ। अँगरेज़ी और बँगला के अनुवादित उपन्यासों से हिन्दी-गद्य में विविध अर्थों की उद्घाटनी प्रतिभा, भावाभिव्यञ्जन-शक्ति, गुम्फित विचारावलि-प्रकाशिनी तथा सन्निहित भावों की विकासिनी-शक्ति का उदय हो गया। थोड़े दिनों तक तो गद्य के निखारने, एवं बिखारने के लिए ऐय्यारी और जासूसी उपन्यास ख़ूब चले, इनमें घटना-योजन का कौतूहल, कथन-कौतुक और वर्णन-वैचित्र्य तो विशेष रहा किन्तु चरित्र-चित्रण, भाव-गाम्भीर्य आदि साहित्यिक गुण कम रहे। इस समय के उपन्यासकारों में से विशेष उल्लेखनीय हैं—

बाबू गदाधरसिंह (सं० १९०५ से ५५ तक) हिन्दी के अच्छे अनुवादक और लेखक थे। इन्होंने कादम्बरी (संस्कृत से), वंगविजेता, दुर्गेशनन्दिनी (बँगला से), ओथेलो (अँगरेज़ी से) अनुवादित किये।

कार्तिकप्रसाद खत्री (सं० १९०८ से ६१ तक) अच्छे लेखक और सम्पादक थे। इन्होंने २० पुस्तकें रचीं और बँगला से प्रमिला, इला, जया और मधुमालती नामक उपन्यास अनुवादित किये।

देवकीनन्दन खत्री ऐय्यारी के अच्छे उपन्यासकार थे। भाषा इनकी सरल और उर्दू-मिश्रित है। वर्णन-शैली रोचक और चित्रोपम है। इनके उपन्यासों में से वीरेन्द्र वीर, चन्द्रकान्ता, और भूतनाथ विशेष उल्लेखनीय हैं।

मराठी और गुजराती के भी कुछ उपन्यासों के अनुवाद हुए किन्तु वे विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं। मौलिक उपन्यासकारों में पं० **किशोरीलाल गोस्वामी** का स्थान ऊँचा है। इनके उपन्यासों में साहित्यिक क्षमता, सजीवता, और चरित्र-चित्रण की शालीनता पाई जाती है। छोटे-बड़े ६५ उपन्यास इन्होंने लिखे और अपनी प्रतिभा को दूसरी ओर नहीं लगाया। कहीं कहीं निम्न श्रेणी की वासनाओं के दृश्य भी पाये जाते हैं। कहीं तो भाषा संस्कृत-प्राय और प्रौढ़ है और कहीं उर्दुए मुअल्ला है। **तारा, इन्दुमती, लवंगलता** आदि उपन्यास इनके उल्लेखनीय हैं।

खड़ी बोली के आचार्य पं० **अयोध्यासिंह** ने भी ठेठ हिन्दी की चर्चा से प्रभावित होकर उसका रूप निश्चित करके प्रचलित करने के लिए, **ठेठ हिन्दी का ठाट** और **अधखिला फूल** दो उपन्यास बोलचाल की साधारण हिन्दी में लिखे। इनके अतिरिक्त उपन्यासकारों में से पं० **लज्जाराम मेहता** (जिन्होंने हिन्दू-धर्म और

संस्कृति आदि को प्रधानता देकर **आदर्श हिन्दू** जैसे कई अच्छे उपन्यास लिखे), **ब्रजनन्दन सहाय** आदि उल्लेखनीय हैं। **चंडी-प्रसाद हृदयेश** ने उच्च कोटि की साहित्यिक भाषा में **मंगलप्रभात** जैसे कइ सुन्दर उपन्यास लिखे। वर्तमान समय में **प्रेमचन्द** का स्थान इस क्षेत्र में ऊँचा माना जाता है। इनके उपन्यासों में मानवीय प्रकृति का विश्लेषण, चरित्र-चित्रण, वस्तु-विन्यास, वर्णन-सौष्ठव और घटना-योजना-क्रम आदि गुण पाये जाते हैं, पात्रानुकूल भाषा का विधान भी मिलता है। हाँ भाषा उर्दू से प्रभावित है और हिन्दी-व्याकरण के अनुसार कम है।

अँगरेज़ी की देखादेखी जैसे बँगला में छोटी कहानियों का लिखना प्रारम्भ हुआ वैसे ही हिन्दी में भी। **गिरजाकुमार घोष** ने हिन्दी में इनका प्रचार किया। अब **गल्प** नाम से ऐतिहासिक, सामाजिक, और पारिवारिक कहानियों के लिखने की परम्परा सी चल पड़ी है जिसमें **प्रेमचन्द** और **सुदर्शन** जैसे लेखक उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार जीवन-चरित्रों और यात्रा आदिकों के लिखने की भी चाल चल पड़ी है किन्तु अब तक इसमें सराहनीय कार्य नहीं हुआ।

गद्य-काव्य—**पं० अम्बिकादत्त व्यास** ने प्रथम इस विषय पर प्रकाश डाला था। तब से इस ओर भी कुछ कार्य हो चला। **गोविन्दनारायण मिश्र** और **प्रेमघन** ने इसके लिए सानुप्रासिक और अलंकृत भाषा की शैली चलाई। ठाकुर **जगमोहनसिंह** ने

प्रकृति-वर्णन, भाव-भावना-चित्रण और कल्पना-कौशल का संचार करते हुए इसको विकसित किया।

इधर थोड़े समय से **भावनात्मक गद्य-काव्य** की रचना हो चली है। **विक्षेप-शैली** से प्रेमोद्गार-प्रकाशन और **धारावाहिक** शैली से भाव-चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। साथ ही लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, भावानुभूति की व्यंजना और कोमल-कान्तपदावली भी रक्खी जाती है। इस प्रकार के गद्य-काव्य-लेखकों में **वियोगी हरि** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनका अन्तर्नाद इस प्रकार के गद्य-काव्य का एक सुन्दर नमूना है। गद्य-काव्य की उक्त विशेषताओं का संचार कुछ नवयुवकों ने साहित्यिक निबन्धों में भी किया है। काव्योपयुक्त विषयों के निबन्धों में तो यह ठीक है किन्तु गम्भीर विषयों के निबन्धों में नहीं।

साहित्यिक निबन्ध—हिन्दी का गद्य अब बहुत कुछ परिष्कृत होकर स्थिर सा हो चला था, उसमें व्याकरण-संयत-व्यवस्था, भाव-प्रकाशिनी शक्ति और विषयानुकूल शैलियों की प्रगति भी आ गई थी। इसलिए अब गम्भीर विषयों के साहित्यिक निबन्धों की रचना में भी उसका उपयोग अच्छी तरह हो सकता था। पहले के लेखकों ने अपनी प्रतिभा को कई ओर लगा कर विविध विषयक रचनाएँ करते हुए साहित्योन्नति तो की थी किन्तु गम्भीर और साहित्यिक निबन्धों की ओर कम ध्यान दिया था।

निबन्ध रचना से ही साहित्य की उत्कृष्टता और महत्ता का परिचय मिलता है और भाषा के विकास-सौष्ठव का पता चलता है। निबन्ध-रचना के अच्छे शास्त्रीय ग्रन्थ यद्यपि अब तक भी नहीं तैयार हुए तो भी पथ-प्रदर्शक रूप में दो चार पुस्तकें बन गई हैं, जिनसे कथात्मक (Narrative), वर्णनात्मक (Descriptive), भावात्मक (Reflective) लेखों के लिखने के नियम ज्ञात होते हैं। निबन्धों के लिए गद्य की भिन्न भिन्न शैलियाँ भी चली हैं। भावात्मक निबन्धों में समास एवं व्यास-शैली, और वर्णनात्मक में धारावाहिक तथा विक्षेपशैली प्रयुक्त होती हैं। गद्य-काव्य के लेखों में एक प्रकार की **प्रलापशैली** का भी उपयोग होने लगा है। भारतेन्दु के ही समय से साहित्यिक निबन्धों की परिपाटी चलती है। उनके कुछ मित्रों ने कुछ स्थायो विषयों पर सुन्दर निबन्ध लिखे, फिर कुछ लोगों ने देश-काल की सामयिक बातों और ऋतुओं आदि पर सुन्दर लेख लिखे। **पं० बालकृष्ण भट्ट** और **प्रतापनारायण मिश्र** का स्थान ऐसे निबन्ध-लेखकों में अच्छा है।

उपन्यास-वृद्धि से निबन्ध-रचना में कुछ शिथिलता आ गई है। **द्विवेदीजी** ने सरस्वती के द्वारा लेख-रचना का अच्छा प्रचार किया और उनके प्रभाव से कई अच्छे लेखक भी तैयार हो गये। **मिश्रबन्धुओं** ने आलोचना-पूर्ण, गम्भीर और भावात्मक लेखों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया और अपने लेखों से पथ-प्रदर्शन कराया। इस समय के लेखकों ने जो भावात्मक लेख लिखे

उनमें बुद्धि को उत्कर्ष देनेवाले गूढ़ भावों का गुम्फन तथा कसा हुआ वाक्य-विन्यास नहीं है। वे बोधक-रीति (Teaching Style) से लिखे गये हैं। एक भाव कई वाक्यों में कई प्रकार समझाया गये है। अस्तु, प्रमुख गद्य-लेखकों में से यहाँ विशेष उल्लेखनीय हैं:—

बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने सजीव, चलती हुई और विनोद-पूर्ण, रोचक भाषा में भावगम्य अच्छे वर्णनात्मक लेख लिखे।

मिश्र-बन्धु—रायबहादुर पं० श्यामबिहारी एम० ए०, राय-बहादुर पं० शुकदेव बिहारी बी० ए०, पं० गणेशबिहारी—हिन्दी के प्रतिभा-सम्पन्न, विद्वान् लेखक, समालोचना तथा साहित्य के इतिहास के प्रवर्तक हैं। काव्य-मर्मज्ञता भी इनमें सराहनीय है। यह सुकवि भी हैं। आपके ग्रन्थों में से **मिश्र-बन्धु-विनोद** (साहित्य के इतिहास का मान्य ग्रन्थ) और **हिन्दी-नवरत्न** (आलो-चना-ग्रन्थ) लोक-प्रसिद्ध और उत्तम ग्रन्थ हैं। आपने सामाजिक, साहित्यिक एवं ऐतिहासिक लेख भी अच्छे लिखे हैं, और व्रजभाषा में कुछ सुन्दर रचना भी की है।

बाबू श्यामसुन्दरदास—हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्रोफ़ेसर हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा आप ही के प्रयत्न का फल है। आप सुयोग्य लेखक हैं। आपके लेख गम्भीर, भाव-पूर्ण और मनन-शील होते हैं। आपकी पुस्तकों में से **साहित्यालोचन**, **भाषा-विज्ञान**, **हिन्दी-भाषा और साहित्य**, उल्लेख-नीय और अवलोकनीय हैं।

पं० भीमसेन शर्मा स्वामी दयानन्द के शिष्य, संस्कृत के पूर्ण पंडित और 'आर्यसिद्धान्त' पत्र के सम्पादक थे। आपकी भाषा संस्कृत-गर्भित परम प्रौढ़ और उच्च कोटि की होती थी।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी—द्विवेदीजी वर्तमान हिन्दी-गद्य के प्रधान प्रवर्तक, खड़ी बोली के आचार्य और खड़ी-बोली-काव्य के पथ-प्रदर्शक हैं। संपादन-कला में आप अकेले ही हैं। हिन्दी-गद्य को व्याकरण-संयत और परिष्कृत बनाने में आपने स्तुत्य कार्य किया है। साहित्यिक निबन्धों एवं आलोचना के क्षेत्र में भी आपका कार्य स्तुत्य-स्मरणीय है। आपने कई सुन्दर पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें से **कालिदास की निरङ्कुशता** आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

पं० रामचन्द्र शुक्ल काशी-विश्वविद्यालय के अध्यापक और सुयोग्य लेखक हैं। आपके लेख गम्भीर और पांडित्य-पूर्ण होते हैं। आप साहित्य-मर्मज्ञ और सत्समालोचक भी हैं। व्रज-भाषा में आप रचना भी अच्छी करते हैं। आपकी पुस्तकों में से **आदर्श-जीवन, हिन्दी-साहित्य का इतिहास, बुद्धचरित्र** और काव्य में रहस्यवाद विशेष उल्लेखनीय हैं।

बाबू कन्नोमल एम० ए० धौलपुर राज्य में जज और हिन्दी के प्रतिभा-सम्पन्न लेखक हैं। दार्शनिक और तर्कात्मक निबन्ध आपने अच्छे लिखे हैं।

पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी विनोद-पूर्ण शैली से हास्य-रस के अच्छे लेखक हैं। आपकी भाषा में लाक्षणिकता,

व्यंजकता और रोचकता ख़ूब रहती है। इनके अतिरिक्त **पं० चन्द्रधर गुलेरी**, बा० **गोसिंह** आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

समालोचना—पहले समालोचना से तात्पर्य, काव्य-शास्त्रानुसार काव्य के गुणों और दोषों के, विवेचन से ही रहता था। अँगरेज़ी के प्रभाव से इसमें भी रूपान्तर और परिवर्तन हुआ और आलोचना की कई नई शैलियाँ भी चल पड़ीं। आलोचना का प्रारम्भ पं० **बदरीनारायण चौधरी** से माना जाता है किन्तु साहित्यिक समालोचना का उदय वास्तव में **मिश्र-बन्धुओं** के ही द्वारा हुआ है। आजकल आलोचना की मुख्य पाँच शैलियाँ प्रचलित हैं:—

१— **अन्तर्वृत्तिप्रकाशन**—(Classical) जिसमें कवि और काव्य की विशेषता उनके गुण-दोषों के साथ दिखलाई जाती है।

२—**निर्णयात्मक**—(Judicial) जिसमें किसी काव्य के गुण-दोषों को देखकर उसका स्थान निश्चित किया जाता है। यह प्रशंसात्मक और निन्दात्मक होती है।

३—**व्याख्यात्मक**—(Inductive) जिसमें काव्य की बातों को स्पष्ट करके उसकी विशेषताओं के साथ विग्रहात्मक व्याख्या की जाती है।

४—**ऐतिहासिक**—(Historical) जिसमें कवि पर पड़े हुए सामयिक एवं सामाजिक आदि प्रभावों को दिखलाते हुए,

साहित्य की परम्परा से उसकी रचना का सम्बन्ध निर्धारित किया जाता है।

५—मनोवैज्ञानिक—(Psychological) कवि के जीवन को देखकर उसकी अन्तर्वृत्तियों के आधार पर उसके काव्य का रूप निश्चित किया जाता है।

पहले यहाँ प्रथम शैली की प्रधानता रही, फिर **बद्रीनारायण चौधरी** ने पुस्तकावलोचन की पद्धति चलाई। **द्विवेदीजी** ने गुण-दोष-मयी तीव्र आलोचना और विशेषता-सूचक समीक्षा करने का मार्ग खोला। **विक्रमांकदेवचरित-चर्चा**, और नैषध-चरित-चर्चा ऐसी ही आलोचना की किताबें हैं किन्तु इनमें सच्ची आलोचना न होकर काव्य-परिचय और भाषा का छिद्रान्वेषण ही अधिक है। **मिश्रबन्धुओं** ने हिन्दी-नवरत्न लिखकर तुलनात्मक आलोचना का एक नया मार्ग खोला, जिसका अनुकरण पं० **कृष्णबिहारी** आदि ने किया। **पं० पद्मसिंह** ने **बिहारी** की आलोचना करते हुए तुलनात्मक, ऐतिहासिक, और रूढ़िगत (Convetional) समीक्षा के साथ महफ़िलो प्रशंसात्मक शैली उठाई।

अँगरेज़ी-साहित्य की नवीन पद्धतियों का प्रभाव ज्यों ज्यों अँगरेज़ी-पठित जनता पर पड़ता गया त्यों ही त्यों इनका प्रचार हिन्दी में भी बढ़ता गया और **प्रभाववादात्मक** ((Inpressionist) जिसमें पाठक पर पड़नेवाले काव्य के प्रभाव के अनुसार आलोचना की जाती है, **अभिव्यञ्जनवादात्मक** (Expressionist)

जिसमें कवि के भाव-प्रकाशन एवं भाव-व्यंजना के वैचित्र्य पर बल रहता है, जैसी शैलियों से आलोचना हो चली।

आलोचकों में आजकल उल्लेखनीय हैं:— **मिश्रबन्धु, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पद्मसिंह शर्मा, पं० कृष्णबिहारी मिश्र** आदि। समालोचना पर अब दो एक पुस्तकें भी लिखी गई हैं जिनमें से **पदुमलाल बख़्शी** की विश्वसाहित्य नामी पुस्तक उल्लेखनीय है।

स्त्री-लेखिकाए—कला-काल में स्त्रियों ने साहित्य-रचना के क्षेत्र में कोई विशेष उल्लेखनीय कार्य नहीं किया। हाँ भक्ति-काल की परम्परा के अनुसार उन्होंने यत्र-तत्र कुछ भक्ति-काव्य अवश्य लिखा है। आधुनिक काल में स्त्री-शिक्षा और पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार से स्त्री-समाज में ज्ञान की वृद्धि हुई और हो रही है। अस्तु इस काल में स्त्रियों ने कुछ कार्य भी किया है। कुछ ने तो व्रजभाषा में भक्ति एवं नीति-विषयक रचनाएँ की हैं और कुछ ने खड़ी बोली में नवीन शैलियों से राष्ट्रीय तथा प्रेमात्मक काल्पनिक कविताएँ लिखी हैं तथा कुछ ने केवल गद्य-रचना ही की है। स्त्रियों ने अपने समाज को ध्यान में रखकर स्त्रियोचित साहित्य के निर्माण करने का प्रयत्न नहीं किया। पुरुषों के अनुसार साहित्य के व्यापक विषय ही उठाये हैं। नाटक आदि कतिपय ऐसे विषय हैं जिनमें उन्होंने अभी कुछ लिखा ही नहीं। इस समय की प्रधान और उल्लेखनीय देवियों में से **प्रताप कुँवरिबाई** (मारवाड़ की रानी जिन्होंने राम-काव्य लिखा है), **सहजोबाई, विष्णुकुँवरि बाई** (रीवाँ-नरेश श्रीरघुराजसिंह की पुत्री), **चन्द्रकलाबाई**

(कलापूर्ण कवित्त-सवैया शैली से अच्छी समस्या-पूर्ति करती थीं) विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने साधारणतः भक्ति-विषयक अच्छी रचना की है। खड़ी बोली की नवीन शैली से गद्य और पद्य लिखनेवाली देवियों में से उल्लेखनीय हैं:—

१--**हेमन्तकुमारी चौधरानी**—जो पंजाब-विश्वविद्यालय के संस्थापक पं० नवीनचन्द्र राय की पुत्री थीं। पंजाब में स्त्री-शिक्षा और हिन्दी-प्रचार का कार्य इन्होंने ख़ूब किया। इनकी पुस्तकों में से **आदर्श माता** विशेष उल्लेखनीय है।

२--**बुन्देलाबाला** लाला भगवानदीन की धर्म-पत्नी थीं। आपने वीररस-पूर्ण शिक्षा-प्रद विषयों पर ओजस्विनी भाषा से अच्छी स्फुट रचनाएँ की हैं।

३--**रामेश्वरी नेहरू** पं० ब्रजलाल नेहरू (I. C. S.) की धर्मपत्नी हैं और सरल मुहावरेदार भाषा में अच्छा लिखती हैं। **सूर्यदेव का आगमन** नामक उपन्यास आपका अच्छा है। इनके अतिरिक्त **तोरनदेवी लली** और **सुभद्रा कुमारी चौहान** आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

विविध विषयक रचनाएँ—इस ओर हिन्दी और उसके साहित्य ने अत्यन्त सराहनीय उन्नति की है। पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा इस कार्य में बड़ी सहायता मिली है। अब भिन्न भिन्न विषयों में हिन्दी के सुयोग्य लेखक अच्छी रचनाएँ कर रहे हैं और प्रतिवर्ष अनेक विषयों पर सुन्दर ग्रन्थ प्रकाशित होते जाते

हैं। **व्याकरण, कोष, भाषा-विज्ञान, गणित, दर्शन, विज्ञान** आदि सभी प्रधान विषयों के क्षेत्रों में सराहनीय कार्य हो रहा है। हिन्दी-साहित्य का इतिहास भी अब वृद्धि पाता जाता है। प्राचीन काव्यों के सुन्दर संस्करण, उनके आलोचनात्मक संग्रह और खोज-विषयक ग्रन्थ भी तैयार हो रहे हैं। भिन्न भिन्न विषयों की पुस्तकों के अनुवाद हो रहे हैं तथा उन पर टीकाएँ भी लिखी जा रही हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन जैसे कुछ अँगरेज़ विद्वानों ने भी हिन्दी में कार्य करके हिन्दी के लेखकों को प्रोत्साहित और उत्तेजित किया है। हिन्दी को प्रवर्धित करनेवाली कई एक संस्थाएँ भी खुल गई हैं जिनमें से **नागरी-प्रचारिणी सभा** और **हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन** विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी और हिन्दी-साहित्य की जैसी उन्नति इधर १५-२० वर्षों में हुई है उसे देखकर यही विश्वास होता है कि थोड़े ही समय में हिन्दी भाषा और उसके साहित्य को वही गौरव प्राप्त हो जायगा जो अँगरेज़ी भाषा और उसके साहित्य को प्राप्त है। शीघ्र ही वह दिन आवे यही हमारी मंगल-कामना है।

तथास्तु